स्वर्गीय पूज्य पिताश्री रामचन्द्रजी सोनी की पुण्य स्मृति मे उनके
पुत्र पदमकुमार, विमलकुमार, सज्जनकुमार चेतनकुमार सोनी
सोजतरोड (बम्बई) के अर्थ-सौजन्य से प्रकाशित।

द्वितीय सस्करण : १९९७

मूल्य : बीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनू, नागौर (राज०)/
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व
भारती प्रेस, लाडनू-३४१ ३०६।

JAINDHARM . JIVAN AUR JAGAT
Sadhvi Kanaksri

Rs 20.00

आशीर्वचन

जैन-दर्शन का निरूपण जीव और अजीव—इन दो तत्त्वो को आधार मानकर किया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव–यह षड्द्रव्यात्मक लोक है। इसमे जीव और अजीव—दोनो का समावेश है। लोक के स्वरूप को अधिगत करने के लिए छह द्रव्यो का बोध आवश्यक है। जीव को उसके सपूर्ण विकास की प्रक्रिया से गुजरने के लिए नौ तत्त्वो का बोध आवश्यक है। "जैनधर्म जीवन और जगत्" पुस्तक मे द्रव्यवाद और तत्त्ववाद का सक्षिप्त और समीचीन स्वरूप उजागर हुआ है।

ज्ञान-प्राप्ति के लिए तीन बातें जरूरी हैं—ज्ञान देने वाला विद्वान, ज्ञान दान का माध्यम साहित्य और जिज्ञासु पाठक या श्रोता। देखा जाए तो आज तीनो ही श्रेणियो के व्यक्ति कम उपलब्ध होते हैं। निष्काम भाव स ठोस ज्ञान देने वाले गुरु कहा हैं? जीवन-स्पर्शी गम्भीर साहित्य कहा है? गहरी जिज्ञासा रखने वाले विद्यार्थी भी कहा हैं? इस क्षेत्र मे जो कमी आई है, आ रही है, उसकी सपूर्ति के लिए विशेष ध्यान देने की अपेक्षा है।

हमने अपनी ओर से इस त्रिकोणात्क अभियान को गति देने का लक्ष्य बना रखा है। फलत यहा अच्छे शिक्षक, अच्छा साहित्य और अच्छे विद्यार्थी उपलब्ध हैं। वतमान की अति व्यस्त जीवन-शैली मे जैन-दर्शन का ठोस अध्ययन करने के लिए कुछ अवकाश रहे, इस दृष्टि से "जैन-विश्व भारती" के समण सस्कृति सकाय की ओर से "जैनविद्या" के साथ पत्राचार पाठमाला का एक सार्थक कार्यक्रम चलाया जा रहा है।

साहित्य-लेखन के क्षेत्र में हमने अपने धर्मसघ की साध्वियो को विशेष रूप से प्रेरित किया। अनेक साध्वियों ने उस प्रेरणा को पकडा और लेखन में रम लिया। साध्वी कनकश्री उनमें एक है। वह अध्ययनशील है, प्रखर वक्ता है और अच्छी लेखिका है। वह अपने लेखन को अधिक गतिशील बनाए। इसके साथ मेरी यह भी अपेक्षा है कि गभीर और ठोस साहित्य के पाठको की सख्या में अभिवृद्धि हो।

जैन विश्व भारती,
१ मई, १९९६

गणाधिपति तुलसी

मगल-संदेश

प्रस्तुत पुस्तक मे जैन-धर्म के माध्यम से जीवन और जगत् को समझने का प्रयत्न है। जीवन को समझने के लिए जगत् को समझना जरूरी है और जगत् को समझने के लिए जीवन का समझना जरूरी है। दोनो सापेक्षता है, परस्परता है इसलिए एक को समझे विना दूसरे को समझा नही जा सकता। जगत् अस्तित्ववादी अवधारणा है और जीवन व्यवहारवादी अथवा उपयोगितावादी अवधारणा। जगत् का स्वरूप है—द्रव्यवाद। द्रव्य की मीमांसा करने वाले का दर्शन विशुद्ध, दृष्टिकोण समीचीन वन जाता है। दर्शन-शुद्धि आचार-शुद्धि का स्रोत वनती है। यह वचन मननीय है—

दविए दसणसुद्धो दसणसुद्धस्स चरण तु।

साध्वी कनकश्री ने द्रव्यवाद और आचारवाद—दोनो को एक माला मे पिरोने का प्रयत्न किया है। यह साधक प्रयत्न है। जीवन और दर्शन की दो दिशागामिता वांछनीय नही है। अपेक्षा है जीवन-दर्शन की। दर्शन-शून्य जीवन (आचार और व्यवहार) और जीवन-शून्य दर्शन समस्या का समाधान नही बनते। जीवन और दर्शन का समन्वित प्रयोग नई धारा हो सकती है, किन्तु आज वह उपेक्षित हो रही है। दर्शन-शास्त्र और आचार-शास्त्र के मध्य लक्ष्मण-रेखा खीचना सगत अभियोजन नहीं है।

गणाधिपति श्री तुलसी ने साध्वी-समाज को अध्ययन, अध्यापन और लेखन की दिशा मे नई गति दी है। फलत अनेक साध्वियो के चरण इस दिशा मे आगे बढ़े हैं। साध्वी कनकश्री का हिन्दी भाषा पर अधिकार है और दर्शन एव आचार के विषय का अध्ययन है। उनकी लेखनी ने भाषा और विषय-दोनो की सम्यग् योजना की है। विकास के लिए बहुत अवकाश है, किन्तु जो है, वह अपने आप मे रमणीय है, पाठक के लिए उपयोगी है।

३० ४ ९६
जैन विश्व भारती,
लाडनूं (राज०)

आचार्य महाप्रज्ञ

पुरोवाक्

जैन तत्त्व-दर्शन भारतीय चिंतन और आध्यात्मिक जीवन-शैली का प्रतिनिधि दर्शन है। वह शुद्ध अर्थ मे मोक्ष-दर्शन है, अध्यात्म-दर्शन है, फिर भी उसका तत्त्व-ज्ञान अत्यन्त वैज्ञानिक है। जैन-दर्शन की अवधारणा मे मौलिक-तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव अथवा जड और चेतन। इन दोनो का सयोग ही ससार है तथा वियोग मोक्ष है। मोक्ष का मूल है सयम-साधना। उसके लिए जीव-अजीव का बोध आवश्यक है। जैन तत्त्व-विद्या का पल्लवन इन्ही दो ध्रुवो से हुआ है। शास्त्रकार लिखते हैं—

> त्रैकाल्य द्रव्यषट्क, नवपदसहित जीवषट्कायलेश्याः,
> पञ्चान्ये चास्तिकाया व्रत समितिगति ज्ञान चारित्र भेदा.।
> इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितै प्रोक्त मर्हद्भि रीशै,
> प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् य. स वै शुद्धिदृष्टिः ॥

त्रैकालिक अस्तित्व वाले छह द्रव्य, नौ पदार्थ, षड्जीव निकाय, छह लेश्या, पञ्चास्तिकाय व्रत, समिति, गतिचक्र, ज्ञान और चारित्र—यह मोक्ष-मूलक ज्ञान लोकत्रय पूजित अर्हतो द्वारा प्रतिपादित है। जो प्राणी इस धर्म पर प्रतीति करता है, श्रद्धा करता है और इसका पालन करता है, वही शुद्ध जीवनदृष्टि सपन्न है।

नैतिक, सांस्कृतिक एव आध्यात्मिक मूल्यों की सुरक्षा के लिए अपेक्षित है जैन तत्त्व-विद्या के साथ युवा-मनीषा की सवादिता स्थापित हो, इससे आध्यात्मिक, सदाचार सम्पन्न, जिज्ञासु और तत्त्वज्ञ व्यक्तित्वो का निर्माण हो सकता है। जैनधर्म और दर्शन की मौलिकता सुरक्षित रहे, स्वाध्याय की एक विशिष्ट शैली का जन्म हो, इस दृष्टि से गणाधिपति पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी श्रावक समाज मे स्वाध्यायशीलता और तत्त्वरुचि का अक्षय पट रोपना चाहते हैं।

परमपूज्य गुरुदेव श्री की सचेतन सन्निधि मे चलने वाली लोक मगलकारी विविध आयामी प्रवृत्तियो की धड़कन है—जैन विश्व भारती। यह जैनधर्म, दर्शन, तत्त्व-विद्या, एव भारतीय प्राच्य विद्याओ के अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसधान का अनूठा केन्द्र है। जैन-संस्कार निर्माण की दृष्टि से जैन विश्व भारती के अन्तर्गत समण-संस्कृति सकाय के तत्त्वावधान में जैन-विद्या का नव वार्षिक एव पत्राचार-पाठमाला का द्विवार्षिक पाठ्यक्रम निर्धा-

रहा है। मुद्रवनित परीक्षाओ का क्रम चालू है। इन परीक्षाओ मे देश भर के सैकडो केन्द्रो से हजारो छात्र-छात्राए प्रतिवर्ष सम्मिलित होते हैं।

पूज्यपाद गुरुदेव श्री एव श्रद्धेय आचार्यप्रवर ने असीम अनुग्रह कर योगक्षेम वर्ष के पूर्व पत्राचार पाठमाला की पाठ्य सामग्री लिखने का निर्देश मुझे प्रदान किया। इसे मैं अपना विशेष सौभाग्य मानती हू। सन् १९८९-९० मे ये पाठ तैयार हुए। पाठ्यक्रम मे स्वीकृत/प्रयुक्त भी हो गये।

सन् १९९१ गुरुदेव श्री का जयपुर प्रवास। आदरास्पद महाश्रमणी जी का सकेत मिला जैनधर्म को आधुनिक भाषा-शैली और सदर्भो मे प्रस्तुत करने की अपेक्षा है। यद्यपि जैनधर्म को समग्रता से जानने/समझने हेतु हमारे धर्म सघ में काफी साहित्य लिखा गया है, किंतु विषय की गभीरता और भाषा की जटिलता के कारण जन-सामान्य उसका पूरा लाभ नही उठा पाता। आज के पढे-लिखे युवक-युवतियो का जैन तत्त्व-दर्शन में प्रवेश हो, यह भी जरूरी है। इन दृष्टियो से पत्राचार पाठमाला के लेखो का अच्छा उपयोग हो सकता है। यदि वे पुस्तक रूप मे एकत्र उपलब्ध हो जाए तो परीक्षार्थियो के अतिरिक्त आम पाठक को भी सुविधा हो सकती है। साध्वीप्रमुखाश्रीजी की इसी प्रेरणा की निष्पत्ति है प्रस्तुत पुस्तक "जैनधर्म जीवन और जगत्"। इसके माध्यम से मैंने जैनधर्म के विचार और आचार पक्ष को जीवन मूल्यो एव जागतिक सदर्भो मे सरल भाषा-शैली मे प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयत्न किया है।

मेरे अध्ययन, अनुशीलन एव लेखन मे आधारभूत ग्रन्थ रहे हैं महामहिम पूज्यपाद गुरुदेव श्री तुलसी द्वारा रचित जैन सिद्धात दीपिका, श्री भिक्षु न्यायकर्णिका, जैन तत्त्व-विद्या, गृहस्थ को भी अधिकार है धर्म करने का इत्यादि तथा महान दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञ की उत्कृष्ट कृतिया— सबोधि, जैनदर्शन मनन और मीमासा आदि। ये ग्रथ प्रस्तुत पुस्तक लिखते समय प्रकाशदीप की भाति मेरा मार्ग-दर्शन करते रहे हैं। मैंने इनका भरपूर उपयोग भी किया है। इसके लिए श्रद्धाप्रणत हू आराध्य द्वयी के प्रति। मुनि श्री महेन्द्रकुमारजी द्वितीय की पुस्तक विश्व प्रहेलिका तथा अन्य विद्वानो/दार्शनिको के ग्रन्थो/निबन्धो का भी यथावश्यक उपयोग किया है। उनके प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हू।

दायरे काफी व्यापक बन गये हैं। इस संस्थान से प्रकाशित होने वाले साहित्य का भी अपना मूल्य है। "जैनधर्म जीवन और जगत्" जैन दर्शन के प्रशिक्षुओं के लिए संदर्भ ग्रंथ के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ है, इसका प्रमाण है पुस्तक की मांग और लोकप्रियता। यह किसी भी लेखक की सफलता का 'माइल स्टोन' माना जा सकता है। पुस्तक का द्वितीय संस्करण पाठकों की मांग पूरी करेगा, वहीं मेरी अगली साहित्य-यात्रा की नयी संभावनाएं भी नयी दिशाएं उद्घाटित करेंगी। इसका स्रोत है गुरुकृपा का प्रसाद और मंगलमय आशीर्वाद।

साध्वी कनकश्री

ज्ञान है आलोक अगम का

दु:ख-मुक्ति का उपाय है विद्या और आचरण। अविद्यावान प्राणी दु:ख-परम्परा का सर्जक होता है। आचरण हमारा गन्तव्य-पथ है। विद्या है रास्ता दिखाने वाला प्रकाश। वह जीवन के यात्रा-पथ में सदा साथ रहता है और पथिक के आगे-आगे चलता है।

एक युवा यात्री को सघन वन पार कर दूरवर्ती कस्बे में जाना था। ऊबड़खाबड़ पहाड़ी रास्ता। अगला गाव दूर तक दिखाई नही दे रहा था। सुरमई साझ उतर आई। युवक का दिल धड़क रहा था। लंबा रास्ता, चारो ओर फैला निर्जन वन, रात का समय, यह डरावना अंधेरा, मेरे पास सिर्फ छोटी-सी टॉर्च, कैसे पार कर सकूगा इस विषम मार्ग को?

दिमाग मे विचारो की उथल-पुथल, भय और आशका, दिल मे धड़कन, तन-बदन मे पसीना, झनझनाहट। एक कदम भी आगे बढना कठिन। वह निराश-हताश हो वही बैठ गया। शरीर शिथिल, मन तनाव-ग्रस्त। अंधेरे की चादर ओढ़े, सहमा-दुबका-सा वह युवक, एक हारे-थके वृद्ध की भांति बैठा था।

उधर से उसके पास से एक वृद्ध व्यक्ति गुजरा। उम्र और आकृति से बूढा होते हुए भी मन से तरुण, गति मे उत्साह की झलक, आखो मे विश्वास की चमक। समीप आते ही युवक से पूछा--क्या बात है? रास्ते मे ही कैसे बैठ गए? युवक ने कहा --क्या कहू? मुसीबत मे घिर गया हू। रास्ता लम्बा, अन्धेरा गहरा और प्रकाश इतना-सा। इस टॉर्च का प्रकाश तो दो-चार कदमो से अधिक साथ नही देगा। कैसे अगले गाव तक जा सकूगा?

रहता है। माण पयासयर—ज्ञान हमारे पथ को आलोकित करता है। अत-श्चेतना को जगाता है।

भारतीय अध्यात्म के आचार्यों ने अथवा प्रवक्ताओ ने धर्म को मुक्ति का साधन माना है। धर्म क्या है ? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए जैन आगमो मे बताया गया, धर्म दो प्रकार का होता है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म। इस वर्गीकरण से धर्म की परिभाषा फलित होती है। यानी श्रुत का, शास्त्रो का अध्ययन और आचार का अनुशीलन ही धर्म है। सामान्यत सयम, शील, सदाचार को धर्म माना जाता है। पर भगवान महावीर ने एक नई दृष्टि दी, वह है—"नाणस्स सारो आयारो"—आचार तो ज्ञान का सार है। यदि ज्ञान नही तो आचार का अवतरण कहा से होगा ? आचार का स्रोत ज्ञान ही है। इसीलिए ज्ञान की प्राप्ति और उसका उत्तरोत्तर विकास मान-वीय जीवन का सर्वोच्च घोष है।

उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य मे यह चिंतन उभरता है कि जिन विपयो का ज्ञान हमारे कार्य-क्षेत्र मे उपयोगी होता है, हमे अधिक से अधिक ससाधन उपलब्ध करा सकता है, हमारे कार्य-क्षेत्र की सफलता का हेतु वनता है, उन विषयो को भली-भाति जानना चाहिए। किन्तु तत्त्व ज्ञान तत्त्व विद्या से जन-सामान्य को क्या लाभ हो सकता है ? तत्त्व उनके लिए है जो आत्मा-परमात्मा तथा जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यो को जानना चाहे। घर-गृहस्थी का सचालन तत्त्व-ज्ञान से नही होता। बात सही है, पर हम हमारे वास्तविक जीवन मे क्या होना चाहते हैं, क्या करना चाहते हैं, इससे पहले हमारी दृष्टि का निर्धारण—परिमार्जन आवश्यक है। तत्त्व-विद्या हमारे सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करती है। सम्यक् दृष्टिकोण ही हमारे आचार-व्यवहार की बुनियाद है।

आचार-दर्शन आदर्श मूलक विज्ञान है। वह जब नैतिक जीवन का आदर्श निर्धारित करने और परम ध्येय के साथ उसका सबध स्थापित करने का प्रयत्न करता है, तब वह तत्त्व-चर्चा का विषय बन जाता है।

तत्त्व-मीमासा सत् के स्वरूप पर विचार करती है। जबकि आचार-दर्शन जीवन-व्यवहार मे मूल्यो का निर्धारण करता है। विचार के ये दोनो क्षेत्र एक दूसरे के बहुत निकट हैं। जब हम किसी एक क्षेत्र मे गहराई से प्रवेश करते हैं तो दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर उसमे भी प्रविष्ट होना पडता है।

मैकेंजी का कथन है कि जब हम यह पूछते हैं कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है ? तब हमे यह भी पूछना पडता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है ? वास्तविक जगत् मे उसका क्या स्थान है ? इन

सब प्रश्नों का समाधान तत्त्व-मीमांसा के ठोस धरातल से ही उपलब्ध हो सकता है।

आचार-दर्शन और तत्त्व-मीमांसा के पारस्परिक संबंध को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि—"कोई भी आचार शास्त्र तत्त्व-दर्शन पर या परम-सत्य के एक दार्शनिक सिद्धान्त पर अवश्य आश्रित होता है। परम सत्य के संबंध में हमारी जैसी अवधारणा होती है, उसके अनुरूप ही हमारा आचरण होता है। दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते हैं।

वास्तव में जब तक तत्त्व के स्वरूप या जीवन के आदर्श का बोध नहीं हो जाता, तब तक आचरण का मूल्यांकन भी संभव नहीं। क्योंकि यह मूल्यांकन तो व्यवहार या आचरण के नैतिक आदर्श के संदर्भ में ही किया जा सकता है। यही एक ऐसा बिंदु है, जहां तत्त्व-मीमांसा और आचार-दर्शन मिलते हैं। इन दोनों को एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

भारतीय चेतना के तीन पक्ष हैं—

(१) ज्ञानात्मक (२) अनुभूत्यात्मक (३) क्रियात्मक।

इस दार्शनिक अध्ययन के भी तीन विभाग हो जाते हैं—

(१) तत्त्व दर्शन (२) धर्म-दर्शन (३) आचार-दर्शन।

इन तीनों की विषय-वस्तु भिन्न नहीं है। मात्र अध्ययन के पक्षों की भिन्नता है। जब व्यक्ति किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशिष्ट प्रकार का प्रयास करता है तब साध्य के स्वरूप, उसकी क्रियाशीलता और साधन-पद्धति इन सब पक्षों पर समग्रता से विचार किया जाता है। इसलिए ये तीनों जुड़े हुए हैं।

रहता है । नाण पयासयर—ज्ञान हमारे पथ को आलोकित करता है । अत-श्चेतना को जगाता है ।

भारतीय अध्यात्म के आचार्यों ने अथवा प्रवक्ताओ ने धर्म को मुक्ति का साधन माना है । धर्म क्या है ? इस जिज्ञासा को समाहित करते हुए जैन आगमो मे वताया गया, धर्म दो प्रकार का होता है—श्रुत धर्म और चारित्र धर्म । इस वर्गीकरण से धर्म की परिभाषा फलित होती है । यानी श्रुत का, शास्त्रो का अध्ययन और आचार का अनुशीलन ही धर्म है । सामान्यत सयम, शील, सदाचार को धर्म माना जाता है । पर भगवान महावीर ने एक नई दृष्टि दी, वह है—"नाणस्स सारो आयारो"—आचार तो ज्ञान का सार है । यदि ज्ञान नही तो आचार का अवतरण कहा से होगा ? आचार का स्रोत ज्ञान ही है । इसीलिए ज्ञान की प्राप्ति और उसका उत्तरोत्तर विकास मान-वीय जीवन का सर्वोच्च घोष है ।

उपयोगिता के परिप्रेक्ष्य मे यह चितन उभरता है कि जिन विषयो का ज्ञान हमारे कार्य-क्षेत्र मे उपयोगी होता है, हमे अधिक से अधिक ससाधन उपलब्ध करा सकता है, हमारे कार्य-क्षेत्र की सफलता का हेतु वनता है, उन विषयो को भली-भाति जानना चाहिए । किन्तु तत्त्व ज्ञान तत्त्व विद्या से जन-सामान्य को क्या लाभ हो सकता है ? तत्त्व उनके लिए है जो आत्मा-परमात्मा तथा जीवन और जगत् के सूक्ष्म रहस्यो को जानना चाहे । घर-गृहस्थी का सचालन तत्त्व-ज्ञान से नही होता । वात सही है, पर हम हमारे वास्तविक जीवन मे क्या होना चाहते हैं, क्या करना चाहते हैं, इससे पहले हमारी दृष्टि का निर्धारण—परिमार्जन आवश्यक है । तत्त्व-विद्या हमारे सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करती है । सम्यक् दृत्टिकोण ही हमारे आचार-व्यवहार की बुनियाद है ।

आचार-दर्शन आदर्श मूलक विज्ञान है । वह जब नैतिक जीवन का आदर्श निर्धारित करने और परम ध्येय के साथ उसका सबध स्थापित करने का प्रयत्न करता है, तब वह तत्त्व-चर्चा का विषय बन जाता है ।

तत्त्व-मीमासा सत् के स्वरूप पर विचार करती है । जबकि आचार-दर्शन जीवन-व्यवहार मे मूल्यो का निर्धारण करता है । विचार के ये दोनो क्षेत्र एक दूसरे के बहुत निकट हैं । जब हम किसी एक क्षेत्र मे गहराई से प्रवेश करते हैं तो दूसरे की सीमा का अतिक्रमण कर उसमे भी प्रविष्ट होना पडता है ।

मैकेंजी का कथन है कि जब हम यह पूछते हैं कि मानव-जीवन का मूल्य क्या है ? तव हमे यह भी पूछना पडता है कि मानव-व्यक्तित्व का तात्त्विक स्वरूप क्या है ? वास्तविक जगत् मे उसका क्या स्थान है ? इन

सब प्रश्नों का समाधान तत्त्व-मीमासा के ठोस धरातल से ही उपलब्ध हो सकता है।

आचार-दर्शन और तत्त्व-मीमासा के पारस्परिक सबध को स्पष्ट करते हुए डॉ० राधाकृष्णन लिखते हैं कि—"कोई भी आचार शास्त्र तत्त्व-दर्शन पर या चरम-सत्य के एक दार्शनिक सिद्धात पर अवश्य आश्रित होता है। चरम सत्य के सबध मे हमारी जैसी अवधारणा होती है, उसके अनुरूप ही हमारा आचरण होता है। दर्शन और आचरण साथ-साथ चलते हैं।

वास्तव मे जब तक तत्त्व के स्वरूप या जीवन के आदर्श का बोध नही हो जाता, तब तक आचरण का मूल्याकन भी सभव नहीं। क्योंकि यह मूल्याकन तो व्यवहार या सकल्प के नैतिक आदर्श के सदर्भ मे ही किया जा सकता है। यही एक ऐसा बिंदु है, जहा तत्त्व-मीमासा और आचार-दर्शन मिलते हैं। अत दोनो को एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता।

मानवीय चेतना के तीन पक्ष हैं—

(१) ज्ञानात्मक (२) अनुभूत्यात्मक (३) क्रियात्मक।

अत दार्शनिक अध्ययन के भी तीन विभाग हो जाते हैं—

(१) तत्त्व-दर्शन (२) धर्म-दर्शन (३) आचार-दर्शन।

इन तीनो की विषय-वस्तु भिन्न नही है। मात्र अध्ययन के पक्षो की भिन्नता है। जब व्यक्ति किसी ध्येय की पूर्ति के लिए विशिष्ट प्रकार का प्रयत्न करता है, तब लक्ष्य के स्वरूप, उसकी क्रियाशीलता और कार्य-पद्धति इन सब पक्षो पर समग्रता से विचार किया जाता है। इसलिए ये तीनो जुडे हुए हैं।

जीवन के विभिन्न पक्ष होते हुए भी एक सीमा के बाद तत्त्व-दर्शन, धर्म-दर्शन और आचार-दर्शन तीनो एक बिन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं। क्योंकि जीवन और जगत् एक ऐसी सगति है, जिसमे सभी तथ्य इतने सापेक्ष हैं कि उन्हें अलग-अलग नही किया जा सकता।

लगभग सभी भारतीय दर्शनो की यह प्रकृति रही है कि आचार-शास्त्र को तत्त्व या दर्शन से पृथक् नही करते। जैन, बौद्ध, वेदान्त, गीता आदि दर्शनो मे कही भी तत्त्व और जीवन-व्यवहार मे विभाजक रेखा नही मिलती।

जैन विचारको ने तत्त्व, दर्शन और आचार—जीवन के इन तीनो पक्षो को अलग-अलग देखा अवश्य है, पर इन्हे अलग किया नही। ये सभी आपस में इतने घुले-मिले हुए हैं कि इन्हे एक दूसरे से अलग करना सभव भी नही है। आचार-मीमासा को धर्म-मीमासा और तत्त्व-मीमासा से न अलग किया जा सकता है और न उनसे अलग कर उसे समझा जा सकता है।

उमास्वाति के इस मूल्यवान सूत्र से यही ध्वनित होता है—

"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्ष-मार्गः।" (तत्त्वार्थसूत्र १।१)

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इन तीनो का समन्वित रूप ही मोक्ष-मार्ग है। एक मे मोक्ष-मार्ग वनने की क्षमता नही है। तीनो मिलकर ही मोक्ष के हेतु हो सकते हैं। कितना घनिष्ट सवध है तीनो का। यहा सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र क्रमश धर्म-श्रद्धा तत्त्व ज्ञान और आचरण के ही प्रतीक हैं। जहा मैकेंजी आदि पश्चिमी विचारक नैतिक जीवन मे आचार पक्ष को ही सम्मिलित करते हैं, वहा जैन विचारक उक्त तीनो पक्षो की अनिवार्यता मानते हैं। यही कारण है जैन आचार-दर्शन का अध्ययन करते समय तत्त्व-मीमासा और धर्म-मीमासा को उपेक्षित नही किया जा सकता।

जैसा कि हमने जाना आचार का स्रोत ज्ञान नही है। ज्ञान की परिणति आचार है। इसलिए आचार की शुद्धि, व्यवहार का परिष्कार और शुभ सस्कारो के निर्माण हेतु ज्ञान पक्ष की भूमिका को गौण नही किया जा सकता।

यद्यपि वर्तमान युग मे ज्ञान-विज्ञान की मूल्य-प्रतिष्ठा स्वत सिद्ध है। उसे प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता नही है। हम जिस युग मे जी रहे हैं, वह बौद्धिक विकास के उत्कर्ष का युग है। नूतन-पुरातन विद्या-शाखाओ का प्रचार-प्रसार द्रुत गति से हो रहा है। शिक्षा-जगत् मे नित नए प्रयोग हो रहे हैं, जिससे मानव-मस्तिष्क की क्षमताओ के विकास की अनन्त सभावनाए उजागर हो रही हैं। फिर भी लगता है आज शैक्षिक स्तर पर जो कुछ हो रहा है, वह पर्याप्त नही है। वर्तमान का विद्यार्थी मात्र पुस्तकीय ज्ञान मे अटका हुआ है। उसका गतव्य है—विद्यालय, महाविद्यालय या विश्वविद्यालय। उसका प्राप्तव्य है—ढेर सारी डिग्रिया। यह भी छिपा हुआ नही है कि डिग्रियो की चकाचौध मे कितना अधकार पल रहा है। उपाधियो के भार के नीचे विवेक-चेतना दबी जा रही है।

"बुद्धेः फल तत्त्व विचारणा च"—बुद्धि का फल है तत्त्व का अनुचिंतन, तत्त्व की खोज। तत्त्वग्राही बुद्धि व्यक्तित्व-विकास को ठोस धरातल दे सकती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली मे तत्त्व-दर्शन उपेक्षित हो रहा है। जीवन-मूल्यो तथा सस्कृति के मौलिक तत्त्व को उपेक्षित कर चलने वाला समाज स्वस्थ और तेजस्वी नही वन सकता, इस दृष्टि ने देश की भावी-पीढी को सस्कारी वनाने के लिए उसे भारतीय धर्मों तथा विभिन्न दर्शनो का ज्ञान कराना आवश्यक है।

जैन-दर्शन शुद्ध अर्थ मे मोक्ष-दर्शन है, अध्यात्म का दर्शन है, फिर भी उसका ज्ञान अत्यन्त वैज्ञानिक है। अपेक्षा है वैज्ञानिक सदर्भों मे उसे

प्रस्तुत किया जाए। इसके लिए जरूरी है जैन तत्त्व-विद्या को आधुनिक शिक्षा-पद्धति के साथ जोड़कर उसे समग्रता प्रदान की जाए। जैन शिक्षा-पद्धति की सर्वांगीणता है—ग्रहण शिक्षा और आसेवन शिक्षा। आज की भाषा मे यह सैद्धातिक और प्रायोगिक प्रशिक्षण नाम से सुपरिचित है।

युगप्रधान आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व मे तेरापथ मे जहा अध्यात्म-विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यावहारिक-मनोविज्ञान, जीवन-विज्ञान आदि अनेक विद्या शाखाओ का आधुनिक सदर्भो मे अध्ययन हो रहा है, वहा जैन तत्त्व-विद्या का भी अध्यवसाय पूर्वक प्रशिक्षण दिया जा रहा है। तत्त्व-विद्या का प्रक्षिक्षण हमारे शैक्षिक क्रम मे प्रथम सोपान है। क्योकि तत्त्व-दर्शन की नीव पर प्रतिष्ठित जीवन मे अद्भुत चमक होती है। तत्त्वज्ञ व्यक्ति का समग्र व्यवहार अपूर्व ढग का होता है। तत्त्वज्ञ व्यक्तियो मे आध्यात्मिकता, आचार-निष्ठा और जिज्ञासु वृत्ति के रत्नदीप सदा-सर्वदा ज्योतित रहते हैं। डॉ० सर्वपल्ली-राधाकृष्णन् के अनुसार "विश्व के रहस्यमय अन्तिम तत्त्व को खोजने की दिशा मे दर्शन, सिद्धात एव आचार-शास्त्र से भी अधिक मूल्य-वान है—मनुष्य का तात्त्विक प्रयत्न। तत्त्व-ज्ञान ही सत्य का प्रतिपादक है। सत्य से अनुप्राणित आचार और व्यवहार ही जीवन को ऊचाइया प्रदान कर सकता है।"

जैसे बत्तख का बच्चा कभी पानी मे नही डूबता, उफनती नदी की क्षुब्ध तरगो पर भी वह तैरता रहता है, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति का चित्त विपरीत परिस्थितियो मे भी क्षुब्ध नही होता। चरक सहिता मे लिखा है—

"लोके विततमात्मानं, लोक चात्मनि पश्यतः।
परावरदृशः शान्ति ज्ञानमूला न नश्यति॥

जो लोक मे आत्मा को और आत्मा मे लोक को व्याप्त देखता है, उस तत्त्वज्ञानी की ज्ञानमूलक शाति कभी भग नही होती। क्योकि ज्ञानी व्यक्ति की मनोनियामिका शक्ति प्रबल होती है, इसलिए वह आवेश और उत्तेजना के वशीभूत होकर अपना सतुलन नही खोता।

जैन-दर्शन न केवल ज्ञानवादी है और न केवल आचारवादी। वह समन्यवादी है। जैन-दृष्टि मे ज्ञान और आचार दोनो का समान महत्त्व है। वह मानता है आचार-शून्य ज्ञान जहा पत्र-पुष्प-शून्य वृक्ष है, वहा ज्ञान शून्य आचार जड रहित वृक्ष है। फिर भी अर्हतवाणी का घोष "पढम नाण तओ दया" इस ओर सकेत करता है कि ज्ञान के द्वारा ही हम हित मे प्रवृत्त होते हैं, अहित से निवृत्त होते हैं और किसी भी परिस्थिति मे मध्यस्थ रहने की क्षमता अर्जित करते हैं। निश्चय दृष्टि से कहा जाए तो तत्त्व ज्ञान ही अगम का आलोक पथ है।

जैसे धागे मे पिरोई हुई सुई कही गिर भी जाए तो भी गुम नही होती, आसानी से मिल जाती है, वैसे ही तत्त्व-विद्या-सम्पन्न व्यक्ति अपने पथ से, अपने लक्ष्य से कभी भटकता नही। कदाचित् भ्रमित हो भी जाए तो तत्त्व-ज्ञान के सहारे पुन सही रास्ते पर आ जाता है। अपने आचार और व्यवहार को परिष्कृत करता रहता है। इस दृष्टि से व्यावहारिक जीवन मे भी तत्त्व-विद्या का मूल्य कम नही हो सकता।

जैन धर्म : एक परिचय

धर्म आत्मा मे जाने का प्रवेश-द्वार है। आत्मा का स्पर्श तब होता है, जब वीतराग-चेतना जागती है। राग-चेतना और द्वेष-चेतना की समाप्ति का क्षण ही वीतराग-चेतना के प्रस्फुटन का क्षण है। जैन-धर्म की सारी साधना वीतराग की परिक्रमा है।

"जैन" शब्द का मूल "जिन" है। "जिन" का अर्थ है जीतने वाला या ज्ञानी। अत अपने आपको जीतने वालो का धर्म जैन धर्म है। अपने आपको जानने वालो का धर्म जैन-धर्म है।

जैन-धर्म के प्रणेता और प्रारम्भ

जैन-धर्म के प्रणेता जिन कहलाते हैं। जिन होते हैं—आत्म-विजेता, राग-विजेता, द्वेष-विजेता और मोह-विजेता। जैन परम्परा मे "जिन" शब्द की अतिरिक्त प्रतिष्ठा है। हो सकता है प्राचीनकाल मे यह "चिन" शब्द से जाना जाता रहा हो। प्राकृत भाषा मे "च" का "ज" हो जाता है। इस-लिए यहा भी सभावना की जाती है कि "जिन" का मूल रूप "चिन" है। इस दृष्टि से "जिन" शब्द को दो अर्थों का सवाहक माना जा सकता है। जिन-ज्ञानी और जिन-विजेता। आवश्यक मे ज्ञाता और ज्ञापक रूप मे—अर्हतो की स्तुति की गई है।[1]

जिन का एक अर्थ है—प्रत्यक्षज्ञानी, अतीन्द्रियज्ञानी। वे तीन प्रकार के होते हैं—१ अवधि ज्ञान जिन, २ मन पर्यवज्ञान जिन और ३ केवल-ज्ञान जिन।[2] इससे भी जिन का अर्थ ज्ञाता ही सिद्ध होता है।

जैन-धर्म के प्रणेता सर्वज्ञ और वीतराग होते हैं। वे प्रकाश, शक्ति और आनन्द के अक्षय स्रोत होते हैं। उनकी आतरिक शक्तिया—अर्हताए समग्रता से उद्भाषित हो जाती हैं, इसलिए वे अर्हत् कहलाते हैं।

चैतन्य की अखड लौ को आवृत्त करने वाले तत्त्व हैं—मूर्च्छा और अज्ञान। जिसकी आतरिक मूर्च्छा का वलय टूट जाता है, उसके ज्ञान का आवरण भी क्षीण हो जाता है। ज्ञान की अखड ज्योति प्रज्ज्वलित होते ही व्यक्ति सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बन जाता है। वह सत्य को उसकी परिपूर्णता मे

---

१. आवश्यकसूत्र, सक्कत्थुई "जिणाणजावयाण।"

२ ठाण ३।५१२ तओ जिणा पण्णत्ता, त जहा—ओहिणाणजिणे, मणपज्जवणाणजिणे, केवलणाणजिणे।

जानने-देखने लगता है। "जिन" सर्वज्ञ होते हैं। केवली होते हैं। वे वस्तु-जगत के प्रति प्रियता-अप्रियता की सवेदना-रहित, मात्र ज्ञाता-द्रष्टा भाव मे अवस्थित रहते हैं।

सर्वज्ञ को अनतचक्षु कहा गया है।[1] उनकी निर्मल ज्ञान-चेतना में अनन्त धर्मात्मक वस्तु समग्रता से प्रतिबिम्बित होती है। इसलिए वे सत्य-द्रष्टा और सत्य के प्रतिपादक होते हैं। वे जन-कल्याण हेतु प्रवचन करते हैं। उनके प्रवचन का उद्देश्य होता है—

- प्रकाश का अवतरण
- बन्धन-मुक्ति
- आनन्द की उपलब्धि।

जैन-धर्म बहुत प्राचीन है, वह वेदो की तरह अपौरुषेय या अव्याकृत नही है।

वह वीतराग—सर्वज्ञ-पुरुषो द्वारा प्रणीत है।

इस युग के आदि धर्म-प्रवर्तक थे—भगवान् श्री ऋषभदेव।

ऋषभदेव का काल-निर्णय आज की सख्या मे नही किया जा सकता। वे बहुत प्राचीन हैं। वे युग-प्रवर्तक थे, मानवीय सभ्यता के पुरस्कर्ता थे। वे इस युग के प्रथम राजा बने। लम्बे समय तक राज्य-तत्र का सचालन कर उन्होने राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्थाओ का सूत्रपात किया। वे मुनि बने। दीर्घकालीन साधना की। घोर तप तपा। कैवल्य को उपलब्ध हुए। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बने। धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। धर्म-तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर कहलाए। ऋषभ इस युग के प्रथम तीर्थंकर थे और श्रमण भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर।[2] जैन-धर्म के बाईस तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल मे हुए। पार्श्व और महावीर ऐतिहासिक पुरुष हैं। तीर्थंकर वह होता है जो स्वय प्रकाशित होकर प्रकाश-पथ का निर्माण करता है। वह स्वतत्र चेतना का स्वामी होता है। अत किसी दूसरे का अनुगमन या अनुकरण नही करता। इसीलिए प्रत्येक तीर्थंकर अपने युग के आदिकर्ता होते हैं। युग-प्रणेता होते हैं। अत देश और काल की सीमाओ से परे रहकर यह कहा जा सकता है कि जैन-धर्म के प्रणेता तीर्थंकर होते हैं। वे जिन, वीतराग, अर्हत्, सर्वज्ञ आदि रूपो मे वदित-अभिनदित होते हैं। भगवान् महावीर इस युग के अतिम तीर्थंकर थे, अत वर्तमान की जैन परम्परा का भगवान् महावीर से गहरा सम्बन्ध है।

---

१ सूयगडो, ६।६।

२ आवश्यक सूत्र १३ निग्गथ-पावयणे थिरीकरण सुत्त —उसभाइ महावीर पज्जवमाणाण।

नामकरण

जैन-धर्म के विभिन्न गुणो मे विभिन्न नाम रहे हैं। इसके प्राचीन नाम हैं —निर्ग्रन्थ प्रवचन, अर्हत् धर्म, समता धर्म और श्रमण धर्म। अर्वाचीन नाम है—जिनशासन या जैनधर्म। इनमे भी बहुप्रचलित और बहुपरिचित नाम जैन-धर्म ही है। जैन-धर्म नाम भगवान् महावीर के बाद मे ही प्रचलित हुआ ऐसा उत्तरवर्ती साहित्य के आधार पर सिद्ध होता है।

जैन कौन ?

जिन प्रवचन ही जैन-धर्म का मूल आधार है। जिन वाणी पर आस्था रखने वाला तथा उन शिक्षा-पदो का आचरण करने वाला समाज जैन समाज कहलाता है। जैसे बुद्ध द्वारा प्रवर्तित धर्म बौद्ध धर्म, ईसा द्वारा उपदिष्ट धर्म ईसाई धर्म कहलाता है, वैसे ही "जिन" या अर्हत् द्वारा प्रवर्तित धर्म जैन-धर्म अथवा आर्हत् धर्म कहलाता है। जैसे शिव और विष्णु को इष्ट मानकर चलने वाले शैव और वैष्णव कहलाते हैं, वैसे ही अर्हत् या जिन को इष्ट मानकर चलने वाले जैन कहलाते हैं।

सार्वभौम धर्म

यहा एक बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि जैसे बुद्ध, ईसा, शिव या विष्णु व्यक्तित्व-वाचक नाम हैं, वैसे जिन या अर्हत् शब्द व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं। जैनधर्म मे व्यक्ति-पूजा का कोई स्थान नही है। वह व्यक्ति की अर्हताओ को, योग्यताओ को मान्यकर, उसकी पूजा-प्रतिष्ठा मे विश्वास रखता है।

जिसके ज्ञान, दर्शन, चारित्र और शक्ति के आवारक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं, चैतन्य का परम स्वरूप प्रकट हो जाता है, वह कोई भी व्यक्ति अर्हत् की श्रेणी मे आ सकता है।

जैन-धर्म सिर्फ सप्रदाय और परम्परा ही नही, बल्कि अपने आपको जीतने और जानने वालो का धर्म है। इसका प्रमाण है—जैन-धर्म का नमस्कार महामत्र और चतु शरण सूत्र।

नमस्कार महामत्र

णमो अरहताण—मैं अर्हतों को नमस्कार करता हू।

णमो सिद्धाण—मैं सिद्धो को नमस्कार करता हू।

णमो आयरियाण—मैं आचार्यो को नमस्कार करता हू।

णमो उवज्झायाण—मैं उपाध्यायों को नमस्कार करता हू।

णमो लोए सव्वसाहूण—मैं लोक के सब सतो को नमस्कार करता हू।

इस नमस्कार महामत्र मे किसी व्यक्ति को नमस्कार नही किया गया। अर्हत् सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—ये साधना की दिशा मे प्रस्थित साधको की उत्तरोत्तर विकसित अवस्थाए अथवा सिद्धि-प्राप्त आत्माओ की भूमिकाए हैं। इन भूमिकाओ पर जो भी आरोहण करता है, वह वदनीय हो जाता है, नमस्य हो जाता है। नमस्कार महामत्र के माध्यम से हम अर्हता, सिद्धता, आचार-सम्पन्नता, ज्ञान-सम्पन्नता और साधुता को वदना करते हैं।

इससे ज्ञात होता है, जैन-धर्म व्यापक और उदार दृष्टि वाला धर्म है। वह जाति, वर्ण, वर्ग आदि की सकीर्णताओ से सर्वथा मुक्त सार्वभौम धर्म है। यद्यपि जैन-धर्म वर्तमान मे मुख्यत वैश्य वर्ग से जुडा हुआ है, पर प्राचीन समय मे सभी वर्गों और जातियो के लोग जैन-धर्म के अनुयायी थे। भगवान् महावीर क्षत्रिय थे, उनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण थे। शालिभद्र, धन्ना आदि अणगार वैश्य थे। उनका प्रमुख श्रावक आनन्द किसान था। तपस्वी हरिकेशबल चण्डाल कुल मे उत्पन्न थे। आज भी दक्षिण भारत मे महाराष्ट्र आदि कई राज्यो मे कृषिकार, कुभकार आदि जैन है। आचार्य विनोबा भावे के शब्दो मे जैन-धर्म की निजी विशेषताए हैं—

- चितन मे अनाक्रामक,
- आचरण मे सहिष्णु और
- प्रचार-प्रसार में सयमित।

काका कालेलकर ने कहा—"जैन-धर्म मे विश्वधर्म बनने की क्षमता है।"

जैनधर्म—दर्शन की मौलिक अवधारणाएं

जैन-दर्शन विश्व के सभी दर्शनो मे विलक्षण है। क्योकि इसकी अवधारणाए मौलिक हैं। वैसे सभी धर्मों और दर्शनो मे कतिपय विलक्षणताए होती हैं, पर जैन-दर्शन कुछ ऐसी अतिरिक्त विलक्षणताए अपने मे समेटे हुए है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। इस एक पद्य के आधार पर हमे जैन-दर्शन के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी मिल सकती है—

आदर्शोऽत्र जिनेन्द्र आप्तपुरूष रत्नत्रयाराधना।
स्याद्वाद. समयः समन्वयमयः सृष्टिर्मता शाश्वती॥
कर्तृत्वं सुखदु खयो स्वनिहित ध्रौव्य व्ययोत्पत्तिमत्।
एका मानव जातिरित्युपगमोऽसौ जैन-धर्मो महान्॥

(गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी)

जैन-धर्म महान् है। उसमे आदर्श है—आप्त पुरुष, उसका साधना-पथ है—रत्नत्रयी की आराधना, सिद्धात है—समन्वय प्रधान अनेकान्तवाद।

अन्य दार्शनिक मान्यताएं हैं—सृष्टि शाश्वत है, सुख और दु.ख का कर्त्ता व्यक्ति स्वय है, प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त है तथा मनुष्य-जाति एक है।

जैन-धर्म के मुख्य सिद्धान्त ये हैं—

- आत्मा है।
- उसका पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म है।
- वह कर्म की कर्त्ता है।
- कृत कर्म की भोक्ता है।
- वन्धन है और उसके हेतु हैं।
- मोक्ष है और उसके हेतु हैं।

उक्त दार्शनिक विन्दुओ पर विस्तृत चर्चा अपेक्षित है।

त्रिपदी : अस्तित्व के तीन आयाम

इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—कि तत्त ? भते ! तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—"उप्पन्ने इ वा"—उत्पाद तत्त्व है। गौतम की समस्या सुलझी नही। उन्होने दूसरी बार पूछा—कि तत्त ? भते ! तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—"विगमेइवा"—विनाश तत्त्व है। गौतम की जिज्ञासा शात नही हुई। उन्होने तीसरी बार वही प्रश्न किया—कि तत्त ? भते ! तत्त्व क्या है ? भगवान् ने कहा—गौतम ! धुवे इ वा—ध्रुव तत्त्व है।

यहा तत्त्व का अर्थ है—पारमार्थिक वस्तु।[1] इसके लिए 'सत्' शब्द का भी प्रयोग होता है। जितने भी अस्तित्ववान् पदार्थ हैं, वे सब सत् हैं, तत्त्व हैं, वास्तविक पदार्थ हैं। इनमे जड और चेतन दोनो का समावेश हो जाता है।

पदार्थ के सम्बन्ध मे सभी दार्शनिक एकमत नही हैं। कुछ दार्शनिक पदार्थ को नित्य—स्थायी मानते हैं और कुछ दार्शनिक उसे अनित्य—परिवर्तनशील मानते हैं। जैन-दर्शन पदार्थ को स्थायी भी मानता है और परिवर्तनशील भी मानता है।[2]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—यह जैन-दर्शन की त्रिपदी है। जैसे विष्णु ने वामनावतार मे तीन चरणो से समग्र ब्रह्माण्ड को नाप लिया था, वैसे ही अमाप्य मेधा के धनी इन्द्रभूति गौतम ने तीन प्रश्नो के माध्यम से सपूर्ण श्रुत-ज्ञान या आर्हत्-दर्शन को आत्मसात् कर लिया। इसी त्रिपदी के आधार पर उन्होने द्वादशागी की रचना की। उनकी ज्ञान-चेतना मे यह स्पष्ट प्रतिबिंबित हो गया कि केवल उत्पाद विनाश या ध्रौव्य वास्तविक नही है। तीनो का सापेक्ष योग ही यथार्थ है।

द्रव्य मे दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय)। बौद्ध सत् द्रव्य को एकात अनित्य मानते हैं तो वेदाती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकात नित्य मानते हैं। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्य

---

१ जैन सिद्धात दीपिका २/१ (आचार्य श्री तुलसी) तत्त्व पारमार्थिक वस्तु।

२ जैन तत्त्व विद्या ४/१ (आचार्य श्री तुलसी)

सत्तावाद। जैन-दर्शन दोनो का समन्वय कर "परिणामी-नित्यवाद" की स्थापना करता है।[1]

उसके अनुसार सत् वह है जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त हो।[2]

सत् उसे कहते हैं, जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण से युक्त हो। यह है जैन-दर्शन का परिणामी नित्यत्ववाद। इसका तात्पर्य है—वस्तु अपने अस्तित्व रूप मे सदा कायम रहती है। कभी भी उसका अस्तित्व समाप्त नही होता, किंतु उत्पाद और विनाश के रूप मे उसका रूपातरण होता रहता है। इसे जैन-दर्शन पर्याय-परिवर्तन कहता है। जैसे दूध से दही बनता है। इस प्रक्रिया मे दूध नष्ट हो जाता है, दही अस्तित्व मे आ जाता है, यह पर्याय है। पर दूध और दही—ये दोनो गोरस हैं। गोरसत्व मे कोई अतर नही है, यह अन्वयी धर्म ध्रौव्य है।[3]

लोक शाश्वत भी अशाश्वत भी

गौतम ने पूछा—भते! लोक शाश्वत है या अशाश्वत? भगवान् ने कहा—लोक द्रव्य से शाश्वत है और पर्याय की दृष्टि से अशाश्वत है, परिवर्तनशील है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ के शब्दों मे—

परिणामिनि विश्वेऽस्मिन् अनादि निधने ध्रुवम्।
सर्वे विपरिवर्तन्ते, चेतना अप्यचेतना॥

—सबोधि १५/३१

यह विश्व अनादि-निधन है, ध्रुव है, फिर भी परिणामी है। इसमे चेतन और अचेतन सभी पदार्थ विविध रूपो मे परिवर्तित होते रहते हैं। "उत्पादव्ययधर्माणो, भावा ध्रौव्यान्विता अपि।" प्रत्येक पदार्थ ध्रौव्य—युक्त होते हुए भी उत्पाद और व्यय-धर्मा है।

जैसे विश्व ध्रुव है, वैसे ही द्रव्य की दृष्टि से जड चेतन प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है, नियत है। ये ससार मे जितने हैं, उतने ही रहेगे। ससार मे न एक जीव घटता है, न एक जीव बढ़ता है, भौतिक जगत् मे न एक अणु कम होता है, न एक अणु अधिक होता है और न कभी जीव अजीव बनता है।

न क्षीयन्ते न वर्धन्ते सति जीवा अवस्थिताः।
अजीवो जीवता नैति न जीवो यात्यजीवताम्॥

—सबोधि १२/६०

---

१ जैन-दर्शन मनन और मीमासा, पृ० १८६।

२ श्री भिक्षु न्याय कणिका—उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सत्।

३ उत्पन्नदधि भावेन, नष्ट दुग्धतया पय।
गोरसत्वात् स्थिर जानन् स्याद्वादद्विड् जनोऽपि॥

ध्रौव्य पदार्थ का सहभावी गुण है। उत्पाद और विनाश उसकी क्रम-भावी अवस्थाए हैं, जो पर्याय कहलाती हैं। विश्व का कोई भी पदार्थ इस त्रयी का अपवाद नही है। इसे द्रव्य का घटक तत्त्व कहे तो कोई आपत्ति नही होगी। पदार्थ की अपने स्वरूप मे अवस्थिति ध्रौव्य है और उसमे जो सतत परिवर्तन की धारा चालू है, वह पर्याय है। द्रव्य गुण और पर्याय—दोनो का समवाय है।

जीव-जगत् और त्रिपदी

लोक मे जीव अनन्त हैं। ससारी जीव भी अनन्त हैं और मुक्त आत्माए भी अनन्त हैं। कर्मबद्ध जीव ससारी हैं। कर्मावरण को क्षीण कर जो ससारी जीव मुक्त हो जाते हैं वे सिद्ध कहलाते हैं। ये आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध अवस्था-जनित भेद है, पर जीवत्व दोनो स्थितियो मे समान है।

अनन्त जीवो के मुक्त हो जाने पर भी ससार जीव-शून्य नही होता। इसका कारण यह है कि जीव दो प्रकार के हैं—अव्यवहार राशि और व्यवहार राशि। अव्यवहार राशि सूक्ष्मतम वनस्पति जगत् है। उसे निगोद भी कहते हैं। निगोद जीवो का अक्षय कोष है। वह अव्यवहार राशि है। स्थूल-जगत् या व्यवहार राशि से जैसे-जैसे जीवात्माए मुक्त होती हैं, वैसे-वैसे अव्यवहार राशि से उतने ही जीव व्यवहार राशि मे आ जाते हैं। इसलिए अनन्त जीवो की मुक्ति हो जाने पर भी ससार जीव-शून्य नही होता। निगोद के जीवो का कभी अन्त नही आता। उनके एक शरीर मे अनन्त जीव रहते हैं। शरीर भी इतना सूक्ष्म जिसकी कल्पना भी नही की जा सकती। आधुनिक विज्ञान के अनुसार हमारे शरीर मे आलपिन की नोक टिके उतने भाग मे दस लाख कोशिकाए हैं। यह स्थूल-जगत् की बात है। निगोद-सूक्ष्म जगत् है। वहा एक शरीर मे अनन्त जीवो का होना असभव नही है। तात्पर्य की भाषा मे अनन्त-अनन्त जीवों से भरे इस ससार मे कभी जीवो का अस्तित्व समाप्त नही होता। इस दृष्टि से जीव जगत् ध्रुव है। शाश्वत है। जीव प्रतिक्षण उत्पन्न होते हैं, विनष्ट होते हैं—इस अपेक्षा से वह अनित्य है। परिवर्तनशील है।

जैसे पुराने कपडे के फट जाने पर नया कपडा धारण किया जाता है, वैसे ही ससारी आत्माए पूर्व देह का त्याग कर नये शरीर का निर्माण करती हैं। जन्म-जन्मान्तर की यात्रा मे वे नाना योनियो मे परिभ्रमण करती हैं, नाना गतियो का अनुभव करती हैं। नरक, तिर्यंच, मनुष्य अथवा देव रूप मे उत्पन्न हो उन-उन अवस्थाओ का सवेदन करती है। परिवर्तन का चक्र अविराम घूमता रहता है फिर भी उसके ध्रुव तत्त्व—चैतन्य की अमिट

लौ सदा प्रज्वलित रहती है। वह कभी नही बुझती।

बचपन, जवानी और बुढापा ये जीवन-यात्रा के अनिवार्य घुमाव हैं। यह परिवर्तन हमारे अनुभव के दर्पण मे स्पष्ट प्रतिबिम्बित है। यदि कोई मूविंग केमरे मे व्यक्ति की क्षण-क्षण मे बदलने वाली अवस्थाओ को कैद करना चाहे तो करने वाला थक जाएगा किंतु अवस्थाओ का कोई अन्त नहीं आएगा। यह स्थूल शरीर के परिवर्तन का चित्र है।

इसके अतिरिक्त हमारे सूक्ष्म शरीर मे कितने रासायनिक परिवर्तन होते हैं, कितने विद्युतीय परिवर्तन होते हैं, कितने भावनात्मक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते हैं, जिनका लेखा-जोखा नही लगाया जा सकता।

शरीर शास्त्रीय खोजो ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक सात वर्ष की अवधि मे मनुष्य-शरीर आमूल-चूल बदल जाता है, उसकी प्रत्येक कोशिका बदल जाती है। इस क्रम मे सत्तर वर्ष मे आदमी का शरीर दस बार बदल जाता है। शरीर मे दस लाख रक्त कोशिकाए प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होती रहती हैं। तथापि प्रतिक्षण घटित होने वाले परिवर्तन मे भी एक ऐसा अपरिवर्तनीय ध्रुव तत्त्व है, जो हमे प्रतीत कराता है कि यह वस्तु वही है, यह शरीर वही है, यह व्यक्ति वही है। यही है वस्तु का त्रिआयामी अस्तित्व। यही है बदलाव मे भी ठहराव। यही है जमाव मे भी बहाव। यही है परिवर्तन-शीलता मे भी ध्रुवता। परिवर्तन मे भी जीवन धारा वही है। पर्यायें क्षणभगुर हैं। चेतना अविनाशी है।

जैसे चेतन कभी अचेतन नही होता, वैसे ही अचेतन मे कभी चैतन्य-गुण प्रकट नही होता। पुद्गल-जड तत्त्व चाहे कितना ही रूपातरित हो जाए उसकी मौलिकता कभी समाप्त नही होती। पुद्गल की मौलिकता है— स्पर्श, रस, गध और रूप। अणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक प्रत्येक पुद्गल मे इनकी सत्ता बराबर है। मिट्टी चाहे सोना बन जाए, शरीर चाहे जल कर राख हो जाए, गोबर चाहे गैस बन जाए, पानी चाहे भाप बनकर शून्य मे विलीन हो जाए, फिर भी उसका पुद्गलत्व समाप्त नही होता। यह मौलिकता एक सचाई है तो परिवर्तन भी सचाई है। कोई भी जड-पदार्थ परिवर्तन के नियम का अपवाद नही है।

मिट्टी के अनेक आकार-प्रकार बनते-बिगडते रहते हैं। पर मिट्टी तत्त्व सब मे समान है। सोने की अनेक अवस्थाए हैं, अनेक वस्तुए हैं, पुरानी वस्तु मिटती हैं, नयी बनती हैं, पर सोना सोना है। उसका अस्तित्व सब मे एक जैसा है।

तीन भाई हैं, उनके पास एक स्वर्ण-कलश है। एक को वह प्रिय है, दूसरा उसे मिटाकर मुकुट बनाना चाहता है। तीसरे को सोने से मतलब है,

वह चाहे किसी रूप मे रहे। कालातर मे घडे का मुकुट बना लिया जाता है। पहला व्यक्ति खिन्न होता है और दूसरा प्रसन्न। तीसरा न खिन्न न प्रसन्न। उसे सोना चाहिए था वह सुरक्षित है। स्वर्ण ध्रौव्य है, घडा और मुकुट उसकी पूर्व-उत्तर अवस्थाए हैं।

त्रिपदी के सबध मे विस्तार से जान लेने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व मे ऐसी कोई भी वस्तु नही है, जो केवल उत्पन्न ही होती है। या केवल विनष्ट ही होती है अथवा कूटस्थ नित्य ही है। सत् त्रयात्मक है। उत्पाद्, विनाश और ध्रौव्य ये तीनो वस्तु के अपरिहार्य अग हैं।

उत्पाद—नयी-नयी अवस्थाओ का प्रादुर्भाव।

विनाश—पूर्व-पूर्व अवस्थाओ का परित्याग।

ध्रौव्य—उत्पाद और विनाश के होते हुए भी वस्तु का अन्वयी गुण धर्म। जैन-दर्शन मे इस त्रिपदी को मातृपदिका भी कहते हैं।

द्रव्य की दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ ध्रुव है। कोई भी पदार्थ न तो नये सिरे से उत्पन्न होता है और न अपना अस्तित्व खोकर शून्य मे विलीन होता है। मात्र उसका परिणमन होता रहता है।

जैन-दर्शन का यह परिणामी नित्यत्ववाद आधुनिक विज्ञान से भी पुष्ट हो रहा है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक लेवाईजर लिखते हैं—"किसी भी क्रिया से कुछ भी नया उत्पन्न नही किया जा सकता और किसी भी क्रिया के पहले और पीछे वस्तु की मूल मात्रा मे कोई अतर नही आता। क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है।

वैज्ञानिक डेमोक्राइटस भी तथ्य को प्रकट करते हैं—विज्ञान के शक्ति-स्थिति, वस्तु-अविनाशित्वा, शक्ति की परिवर्तनशीलता आदि सिद्धातो से यह धारणा मजबूत होती है कि नाशवान् पदार्थ मे भी ध्रुवत्व है अर्थात् असत् की उत्पत्ति नही होती और सत् का विनाश नही होता।

त्रिपदी का यथार्थ बोध वस्तुगत सच्चाइयो का उद्घाटन करता है। आतरिक मूर्च्छा के वलय को तोडता है। सम्यक् दृष्टिकोण का निर्माण करता है। दृष्टि-सम्पन्नता ही सत्य शोध का आदि बिंदु है।

जैनदर्शन में तत्त्ववाद

विश्व मच पर जितने दार्शनिक विचार उभरे, उन सवकी भिन्न-भिन्न परम्पराए हैं, स्वतत्र मान्यताए हैं। तत्त्ववाद भी सबका अपना-अपना है। उनमे एक है जैन-दर्शन। यह भारतीय दर्शनो की एक मुख्य धारा है। उसकी परम्परा स्वतत्र है। तत्त्व-मीमासा मौलिक है।

तत्त्व का सामान्य अर्थ है—वास्तविक या अस्तित्ववान् पदार्थ। रहस्यभूत पदार्थ को भी तत्त्व कहते हैं। चैतन्य का विकास या मोक्ष-मीमासा के परिप्रेक्ष्य में तत्त्व का अर्थ है—पारमार्थिक वस्तु। चैतन्य जागरण और परम सत्ता की उपलब्धि हेतु इन नत्त्वो का सम्यग् बोध अपेक्षित है। जैन-दर्शन के अनुसार मुख्य रूप से तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। ससार के दृश्य-अदृश्य, सूक्ष्म-स्थूल, मूर्त-अमूर्त, जड-चेतन—सभी पदार्थों का समावेश इन दो तत्त्वो मे हो जाता है। ऐसा कोई भी पदार्थ नही वचता, जिसका अन्तर्भाव इस तत्त्वद्वयी मे न हो। ससार के समस्त पदार्थों को कम से कम समूहो मे वर्गीकृत किया जाए तो उनकी दो राशिया होती हैं —

१ जीव-राशि　　　　२ अजीव राशि।

इन दोनो का विस्तार से विश्लेषण किया जाए तो अनेकानेक भेद हो सकते हैं।

जैन-दर्शन मे तत्त्व-प्रतिपादन की दो दृष्टिया रही हैं—जागतिक और आत्मिक। जागतिक रहस्यो के उद्घाटन हेतु छ द्रव्यो का सूक्ष्म-विश्लेपण जैन-दर्शन की अद्भुत देन है। आध्यात्मिक-विकास के अनुचिंतन मे दो दृष्टिया प्रमुख हैं—वन्धन और वन्धन के हेतु तथा मोक्ष और मोक्ष के हेतु। इस समूची प्रक्रिया का वोध एक अध्यात्म-साधक के लिए नितात अपेक्षित है। नौ तत्त्वो का प्रतिपादन इसी दिशा का एक स्वस्थ उपक्रम है। षट् द्रव्य और नव तत्त्व के प्रतिपादन को दर्शन-जगत् मे अस्तित्ववाद और उपयोगितावाद भी कहा जाता है। जो ज्ञेय पदार्थ मोक्ष-साधना मे उपयोगी हैं, जैन-दर्शन की भाषा मे वे तत्त्व कहलाते हैं।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष—ये नौ तत्त्व हैं।

जीव-चैतन्य का अजस्र प्रवाह। दूसरे शब्दो मे जिसमे चैतन्य हो, सुख-दुःख का संवेदन हो वह जीव है।

अजीव—चैतन्य का प्रतिपक्षी जड़-तत्त्व अजीव है।

पुण्य—शुभरूप मे उदय मे आने वाले कर्म-पुद्गल पुण्य है।

पाप—अशुभरूप मे उदय मे आने वाले कर्म-पुद्गल पाप है।

आस्रव—पुण्य-पाप रूप कर्म ग्रहण करने वाली आत्म-परिणति आस्रव है।

सवर-आस्रव का निरोध करने वाली आत्म-परिणति सवर है।

निर्जरा—तपस्या आदि के द्वारा कर्म-निर्जरण होने से आत्मा की जो आशिक उज्ज्वलता होती है, वह निर्जरा है।

वन्ध—आत्मा के साथ बधे हुए शुभ-अशुभ कर्म-पुद्गलो का नाम वध है।

मोक्ष—कर्म-विमुक्त आत्मा अथवा अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित आत्मा ही मोक्ष है।

जैसा कि हमे पहले ही बताया जा चुका है कि वास्तविक तत्त्व दो ही हैं—जीव और अजीव। फिर भी मोक्ष-साधना के रहस्य को बतलाने के लिए इनके नौ भेद किए गए है। इन नौ भेदो मे प्रथम भेद जीव का है और अतिम भेद मोक्ष का। जीव आत्मा की अशुद्ध-अवस्था है और मोक्ष विशुद्ध अवस्या। मध्यगत भेदो मे मोक्ष के साधक और बाधक तत्त्वो का निरूपण है।

अस्त्यात्मा शाश्वतो, बन्धस्तदुपायश्च विद्यते।
अस्ति मोक्षस्तदुपायो, ज्ञेय-दृष्टिरसौ भवेत्॥

—सबोधि १२/४

आत्मा है, वह शाश्वत है, पुनर्भवी है। बन्ध है और उसका हेतु है। मोक्ष है और उसका उपाय है। यह ज्ञेय-दृष्टि है, सम्यक्त्व का आधारभूत तत्त्व है।

वन्ध पुण्य तथा पापमास्रव कर्मकारणम्।
भव-बीजमिद सर्व, ज्ञेय दृष्टिरसौ भवेत्॥

—संबोधि १२/५

वध, पुण्य, पाप तथा कर्मागमन का हेतुभूत आस्रव—ये हेय हैं, क्योंकि ये ससार के बीज है। भव-परम्परा के मूल कारण हैं।

निरोध कर्मणामस्ति, संवरो निर्जरा तथा।
कर्मणां प्रक्षयश्चैपोपादेय-दृष्टिरिष्यते॥

—सबोधि/१२६

कर्मों का निरोध करना सवर है और कर्म-क्षय से होने वाली आत्म-शुद्धि निर्जरा है, यह उपादेय दृष्टि है।

साधना का आदि बिंदु है—लक्ष्य का चुनाव और दिशा का निर्धारण

उसका दूसरा बिंदु है—भटकाने वाले तत्त्वों से बचाव और तीसरा बिंदु है—सही दिशा में जागरूक अभिक्रम।

अध्यात्म-साधक का परम लक्ष्य है—द्वन्द्व-मुक्ति—मोक्ष। उसके बाधक तत्त्व हैं—बंध, पुण्य, पाप और आस्रव। लक्ष्य-प्राप्ति के साधक तत्त्व हैं—संवर और निर्जरा।

नौ तत्त्वों में चार तत्त्व अजीव हैं, अजीव की अवस्थाएं हैं—अजीव, पुण्य, पाप और बन्ध।

पांच जीव हैं, जीव की अवस्थाएं हैं—जीव, आस्रव। संवर, निर्जरा और मोक्ष।

इन नौ तत्त्वों को नौ पदार्थ या नव सद्भाव पदार्थ भी कहते हैं। नौ तत्त्वों का सम्यक् बोध सम्यक्त्व की आधार-भित्ति है। सम्यक्त्व का अर्थ है—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा। सम्यक् ज्ञान के बिना श्रद्धा में स्थायित्व नहीं आता। अतः प्रत्येक साधक के लिए कम से कम नौ तत्त्वों का ज्ञान करना अनिवार्य है।

दशवैकालिक सूत्र में बताया गया है कि तत्त्वज्ञान मोक्ष-यात्रा का प्रथम सोपान है। उसके बिना निर्वाण और दुःख-मुक्ति संभव नहीं।

जीव और अजीव को जानने से अहिंसा की सही समझ विकसित होती है। उससे आचार-व्यवहार संयत होता है उसका फलित है—मुक्ति। मुक्ति का आरोह-क्रम यह है —

१ जीव-अजीव का ज्ञान।
२ जीवों की बहुविध गतियों का ज्ञान।
३ पुण्य, पाप, बंध और मोक्ष का ज्ञान।
४ भोग-विरति।
५ आंतरिक और बाह्य संयोगों का त्याग।
६ अनगार-वृत्ति।
७ अनुत्तर संवर-योग की प्राप्ति।
८ अबोधि से अर्जित पाप-कर्मों (कर्म-रजों) का विलय।
९ केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की उपलब्धि।
१० अयोग-अवस्था।
११ सिद्धत्व-प्राप्ति।

—दशवैकालिक अ ४/१४-२५

आचार्य श्री भिक्षु ने एक बहुत ही सुन्दर रूपक के माध्यम से नौ तत्त्वों को समझाया है —

जीव एक तालाब (जलाशय) के समान है।
अजीव तालाब का अभाव रूप है।

पुण्य-पाप तालाब का निकलता-बहता पानी है ।

आस्रव तालाब का नाला है ।

सवर तालाब के नाले का निरोध है ।

निर्जरा - जल निष्कासन-प्रक्रिया से पानी का निकलना निर्जरा है ।

बध — तालाब का सचित जल बध है ।

मोक्ष — खाली तालाब मोक्ष है ।

यहा एक बात और विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि यह विश्व सप्रतिपक्ष है । प्रतिपक्ष का सिद्धात सर्वत्र समान रूप से लागू है । क्योकि प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व असभव है । नौ तत्त्वो मे भी प्रत्येक तत्त्व के साथ उसके प्रतितत्त्व का प्रतिपादन है ।

विश्व मे यदि जीव का अस्तित्व है तो अजीव भी निश्चित है । जीव चेतनावान् पदार्थ है तो अजीव चेतनारहित । जीव दो प्रकार के होते हैं— सिद्ध और ससारी । सिद्ध आत्माए जन्म-परम्परा से मुक्त हैं । ससारी आत्माए कर्म-प्रभाव से ससार मे परिभ्रमण करती हैं और सुख-दुख का भोग करती हैं । इसका कारण है — पुण्य-पाप । ये दोनो प्रतिपक्षी हैं । आत्मा की सत् प्रवृत्ति से आकृष्ट पुद्‌गल-स्कन्ध शुभकर्म या पुण्य कहलाता है, तथा आत्मा की असत् प्रवृत्ति से आकृष्ट पुद्‌गल-स्कन्ध अशुभ कर्म या पाप कहलाता है ।

आस्रव का प्रतिपक्षी तत्त्व है सवर । आस्रव चेतना का छिद्र है, जिससे निरन्तर कर्म-रजो का प्रवेश होता रहता है । सवर आस्रव-निरोध की प्रक्रिया है । इससे कर्मों का आगमन रुकता है ।

वन्धन के प्रतिपक्षी तत्त्व हैं—निर्जरा और मोक्ष । निर्जरा आत्मा की आशिक उज्ज्वलता है । मोक्ष है—कर्ममलो का पूर्णत विलय । जिस क्षण नया कर्म-बन्धन अवरुद्ध हो जाता है और पूर्वबद्ध कर्म पूर्णत क्षीण हो जाते हैं, वही क्षण मोक्ष का क्षण है ।

जैन-धर्म में जीव-विज्ञान
(षड्जीव-निकाय)

जैन-धर्म अहिंसा-प्रधान धर्म है। अहिंसा का फलित है—मैत्री। सब जीवो के प्रति आत्मत्व बुद्धि का नाम मैत्री है। अहिंसा का अर्थ है सब जीवो के प्रति सयम। अहिंसा और मैत्री के विकास के लिए जीवो के अस्तित्व का बोध, उनके लक्षणो का बोध और उनकी विभिन्न अवस्थाओ का बोध करना आवश्यक है।

जैन आगमों मे जीवो के छह प्रकार बताए गए हैं, जो छ जीव-निकाय के रूप मे प्रसिद्ध हैं। जीवो के छह प्रकार ये हैं—

- पृथ्वीकायिक
- अप्कायिक
- तेजस्कायिक
- वायु-कायिक
- वनस्पतिकायिक
- त्रसकायिक।

काय का अर्थ है—शरीर। भाति-भाति के पुद्गलो से बने शरीरो के आधार पर जीवो का यह वर्गीकरण हुआ है। उनका वर्णन क्रमश इस प्रकार है -

(१) काठिन्य आदि लक्षणो से जानी जाने वाली पृथ्वी ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवो को पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक जीव कहते हैं।

मिट्टी, बालू, नमक, सोना, चादी, अभ्रक, हीरे, पन्ने आदि जितने भी प्रकार के खनिज पदार्थ हैं, वे सब पृथ्वीकायिक जीवों के पिंड हैं। मिट्टी के एक छोटे-से ढेले मे असख्य जीव होते हैं। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी स्वतत्र सत्ता बनाए रखते हैं।

आगम की भाषा मे एक हरे आवले के आयतन जितने मिट्टी के ढेले मे जितने पृथ्वीकायिक जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक जीव के शरीर को कबूतर जितना बडा किया जाए तो एक लाख योजन लम्बे-चौडे जम्बूद्वीप मे भी वे जीव नही समा सकते।

(२) प्रवाहशील द्रव्य जल ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवो को अप्काय या अप्कायिक जीव कहते हैं। वर्षा, जलाशय, नदी नाले समुद्र आदि का जल, ओले, कुहरा, ओस—ये सब अप्कायिक जीवो के

शरीर हैं। इन जीवो के शरीर इतने सूक्ष्म होते हैं कि एक-एक शरीर हमे दिखाई ही नही देता। पानी की एक बूद अप्कायिक जीवो के असख्य शरीरो का पिण्ड है। ये जीव एक साथ रहने पर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता वनाए रखते हैं।

आगम की भाषा मे—पानी की एक बूद मे जितने जीव हैं, उन सव मे से प्रत्येक का शरीर सरसो के दाने के समान वनाया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप मे नही समाते।

(३) उष्ण लक्षण तेज ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवो को तेजस्काय या तेजस्कायिक जीव कहते हैं। सभी प्रकार की अग्नि अग्निकाय के जीवो का पिण्ड है। एक साथ रहते हुए भी इन सब जीवो का अस्तित्व अलग-अलग है।

आगम की भाषा मे—एक चिनगारी मे जितने जीव हैं, उनमे से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप मे नही समाते।

(४) चलन धर्मा वायु ही जिनका काय-शरीर होता है, उन जीवो को वायुकाय या वायुकायिक जीव कहते हैं। सब प्रकार की हवाए वायुकायिक जीवो का पिण्ड है। एक साथ रहते हुए भी इन सब जीवो का अस्तित्व भिन्न-भिन्न है।

आगम की भाषा मे—नीम के पत्ते को छूने वाली हवा मे जितने जीव हैं, उन सब मे से प्रत्येक जीव के शरीर को खस-खस के दाने के समान किया जाए तो वे जीव जम्बूद्वीप मे नही समाते।

(५) लतादिरूप वनस्पति ही जिनका काय-शरीर है, उन जीवो को वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक जीव कहते हैं। वृक्ष, लता, गुच्छ, फल-फूल, धान-पात, कद-मूल —ये सब वनस्पतिकायिक के प्रकार हैं।

इस काय मे रहने वाले जीवो के दो प्रकार हैं—प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। प्रत्येक वनस्पति के जीव एक-एक शरीर मे एक-एक ही होते हैं। एक जीव के आश्रित असख्य जीव रह सकते हैं, पर उन सबका अस्तित्व स्वतन्त्र है।

साधारण वनस्पति मे एक-एक शरीर अनन्त-जीवो का पिण्ड होता है। सब प्रकार की काई, कद-मूल आदि साधारण वनस्पति है।

ससार के सर्वाधिक जीव वनस्पतिकाय मे ही है। साधारण वनस्पति का एक प्रकार है—"निगोद" यह जीवो का अक्षय कोष है।

(६) त्रसनशील—गतिशील प्राणी 'त्रस" कहलाते हैं। त्रस ही जिनका काय—शरीर है, उन जीवो को त्रसकाय या त्रसकायिक कहते हैं।

जिन जीवो के शरीर मे सुख-प्राप्ति अथवा दु ख-मुक्ति के लिए

चलने-फिरने की, सकोच-विकोच की क्षमता होती है, वे जीव त्रस, चर या जगम कहलाते हैं। दो इन्द्रिय वाले प्राणियो—कृमि आदि से लेकर पाच इन्द्रिय वाले प्राणियों तक सभी जीव इस विभाग मे आ जाते हैं।

जहां जीवो के त्रस और स्थावर—ये दो भेद किए जाते हैं, वहा एक त्रसकाय त्रस है जो कि उसके नाम से ही स्पष्ट है। बाकी पाच स्थावर हैं। ये सुख-दु ख की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए गमनागमन नही कर सकते। त्रसकाय का जीवत्व स्पष्ट है। पाच स्थावर काय का जीवत्व स्पष्ट नही है। इसीलिए कई दार्शनिक इनको चेतन के रूप मे स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि मे ये "जड" या "पाचभूत" मात्र हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और हरियाली सजीव हैं, चेतनावान् हैं। उक्त पाच स्थावर जीव-निकायो के सम्बन्ध मे "दसवेआलिय" मे स्पष्ट उल्लेख है कि ये सब अर्हत्-प्रवचन मे "चित्तमतमक्खाया"—चेतनावान् कहे गए हैं। "मत" शब्द को "मात्र" मानकर भी व्याख्या की जाए तो मात्र का एक अर्थ है स्तोक—अल्प। तब इनका अर्थ होगा पृथ्वीकाय आदि पाच जीव-निकायो मे चैतन्य-स्तोक-अल्प विकसित है। उनमे श्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष आदि जीव के व्यक्त चिह्न नही हैं।

"मत्त" का अर्थ मूर्च्छित भी किया गया है। जैसे चित्त के विघातक कारणो से अभिभूत मनुष्य का चित्त मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ज्ञान के आवारक कर्म-पुद्गलो के प्रबल उदय से पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवो का चैतन्य सदा मूर्च्छित रहता है। इनके चैतन्य का विकास न्यूनतम होता है।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय—पशु, पक्षी, नारक, मनुष्य, देव—इन सब मे चेतना का विकास उत्तरोत्तर अधिक है। ससार की सब जीव-जातियो मे सबसे कम विकसित चेतना एकेन्द्रिय जीवो की है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये सब एकेन्द्रिय हैं—एक स्पर्शन इन्द्रिय वाले जीव हैं। ये न चख सकते हैं, न सूघ सकते हैं, न देख सकते हैं और न सुन सकते है। इनका सारा काम एक स्पर्श के आधार पर चलता है। इस विभाग मे ससारी जीवो का इतना बडा समूह है जो गणित की गणना का विषय नही हो सकता।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार—सजातीय अकुरोत्पत्ति जब तक शस्त्र द्वारा उपहत न हो, सहज द्रव होना, आहार से बढना, बिना दूसरे की प्रेरणा से सहज अनियमित तिर्यक् गति तथा छेदन-भेदन होने पर कुम्हला जाना—ये क्रमश पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की सजीवता के साधक प्रमाण है। (श्री भिक्षु न्याय कर्णिका ७।११)

जैन-दर्शन की स्थावर जीवो की मान्यता सर्वथा मौलिक और अद्वितीय है। अन्य दर्शन-पृथ्वी आदि को सजीव नही मानते थे। परन्तु आज वैज्ञानिक खोजो और प्रयोगो ने जैन-दर्शन की इस मान्यता को सत्य सिद्ध कर दिया है।

सूक्ष्म जीव जगत् और विज्ञान

पृथ्वी का जीवत्व

जैन-दर्शन पृथ्वी को सजीव मानता है। जब तक शस्त्र-उपहत नही होती, मिट्टी आदि निर्जीव नही होती। पृथ्वी की सजीवता सिद्ध करने वाले ये वैज्ञानिक तथ्य मननीय हैं।

मास्को विश्वविद्यालय के मृत्तिका जीव-विज्ञान-विभाग के प्रधान तथा सूक्ष्म कीटाणुओ के प्रमुख विशेषज्ञ प्रो० एन० क्रोसिल निकोव ने मिट्टी सजीव है या निर्जीव, यह जानने के लिए वर्षों तक खोज की, प्रयोग किए और सफलता के शिखर को छूते हुए उन्होने कई नए तथ्य प्रस्तुत किए। उन्होने "एनारोबिक' नाम के ऐसे कीटाणुओ का पता लगाया, जो जमीन के भीतर ऑक्सीजन के बिना ही जीवित रहते हैं, क्रियाशील रहते हैं।

प्रो० क्रोसिल के शिष्य वी० दूदा विभिन्न प्रकार की मिट्टियो से सौ से अधिक प्रकार के इन कीटाणुओ को अलग करने मे सफल हुए हैं। यहा यह ज्ञातव्य है कि जैन-विज्ञान के अनुसार पृथ्वी मे रहने वाले कीटाणु पृथ्वीकाय नही हैं। पृथ्वीकाय स्वय जीवाणुओ का पिंड है।

विज्ञान ने यह भी सिद्ध कर दिया कि एक ग्राम के ढेले मे कई लाख दर्जन अतिसूक्ष्म जीवाणु ठसाठस भरे हैं, जो लाखो वर्षों से लगातार अथक प्रयास कर, धरती को उपजाऊ बनाए रखते हैं।

सजातीय उत्पादन और वृद्धि—यह जीव की खास पहचान है। जैन-दर्शन मानता है, पृथ्वीकाय मे निरन्तर वृद्धि का क्रम चालू रहता है। यह विज्ञान से भी सिद्ध होता है।

वैज्ञानिक एच० टी० बसटापेन के अनुसार—"जैसे बालक का शरीर निरन्तर बढ़ता रहता है, वैसे पर्वत भी धीरे-धीरे बढते हैं। विश्व के पर्वतो की वृद्धि का अंकन करते हुए लिखते हैं—"न्यूगिनी के पर्वतो ने अभी अपनी शैशवावस्था ही पार की है, सेलीबोस के दक्षिणी-पूर्वी भागो, मोलूकास के कुछ टापुओ और इडोनेशिया के द्वीप समूह की भूमि ऊची उठ रही है।

डॉ० सुगाते के अभिमत मे न्यूजीलैण्ड के पश्चिमी नेलसन के पर्वत 'प्लाइस्टोसीन" युग के अन्त मे विकसित हुए हैं। डॉ० वेल्मेन लिखते हैं—आल्पस पर्वतमाला का पश्चिमी भाग अब भी बढ रहा है। 'द्वीपो की भूमि का उठाव तथा पर्वतो की वृद्धि पृथ्वी की सजीवता के स्पष्ट प्रमाण हैं

पानी की सजीवता भी विज्ञान की कसौटी पर खरी उतर रही है। जैन-दर्शन के अनुसार पानी की एक बूद मे असख्य जीव होते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक कैप्टिन स्कवेसिवी ने यन्त्र के द्वारा एक लघुजलकण मे ३६४५० जीव गिना दिए हैं।

अग्नि और वायु की सजीवता भी विज्ञान-सम्मत है।

जैसे मनुष्य, पशु आदि जीवित प्राणी श्वास द्वारा शुद्ध वायु से ऑक्सीजन ग्रहण कर जीवित रहते हैं, वैसे ही अग्नि भी वायु से ऑक्सीजन लेकर ही जीवित रहती है, जलती है। अग्नि को यदि वर्तन से ढक दिया जाए या उसे हवा न मिले तो वह तत्काल बुझ जाती है।

हवा की सजीवता के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक भी कहते हैं कि सुई की नोक टिके उतनी हवा मे लाखो जीव रहते हैं जिन्हे "थेक्सस" कहा जाता है।

वनस्पति की सजीवता अन्य स्थावर जीव-निकायो की अपेक्षा बहुत स्पष्ट है। "आयारो" मे मनुष्य और वनस्पति जगत् की प्रकृतिगत समानताओ का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। (आयारो १।७)

विज्ञान जगत् मे सर्वप्रथम सर जगदीशचद्रवसु ने यह बात सिद्ध की थी कि वनस्पति सजीव है। उन्होने यन्त्रो के माध्यम से वनस्पति जगत् की सवेदनशीलता को स्पष्ट दिखलाया था। डॉ० वसु ने दिखाया कि वनस्पति अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे हर्ष, शोक, रूदन आदि करती है। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि वनस्पति काय मे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह —ये चारो सज्ञाए होती हैं।

जैसे मनुष्य शरीर आहार से बढता है, उपचित होता है, अन्यथा अपचित हो जाता है, सूख जाता है, वैसे ही वनस्पतिया भी उपचित, अपचित होती हैं।

वैज्ञानिको ने भी सिद्ध कर दिया है कि वनस्पतिया मिट्टी, जल, वायु, प्रकाश आदि से आहार ग्रहण कर अपने तन को पुष्ट करती हैं, आहार के अभाव मे वे जीवित नही रह सकती।

मनुष्य, पशु-पक्षी आदि की भाति वनस्पतिया भी शाकाहारी और मासाहारी होती हैं।

छुईमुई सकोचशील और भयप्रधान वनस्पति है। वनस्पति जगत् मे मैथुन और परिग्रह की वृत्ति भी होती है। पेड-पौधे भी मनुष्यो की भाति नीद लेते हैं, विश्राम कर थकान मिटाते हैं। वनस्पतिया बहुत सवेदनशील होती हैं। फूल-पत्तिया एक माली और हत्यारे की पहचान अच्छी तरह से कर लेती हैं। आधुनिक सूक्ष्म यन्त्रो के माध्यम से वनस्पति जगत् की सजीवता के सम्बन्ध मे वैज्ञानिको ने अनेक रहस्यो को अनावृत किया है।

सूडान और वेस्टइडीज मे एक ऐसा वृक्ष मिलता है, जिसमे से दिन मे विविध प्रकार की राग-रागनिया निकलती हैं और रात को रोने-धोने की ऐसी आवाजें निकलती हैं, मानो परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर रो रहे हैं।

जैन-ग्रन्थों मे वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष की मानी गई है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमड शुभाशा के अनुसार अमेरिका के केलीफोर्निया के नेशनल वन मे ४६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान हैं।

इन अध्ययनो से यह धारणा स्पष्ट हो जाती है कि जैन-धर्म का जीव-विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है, गम्भीर अध्ययन-अनुशीलन का विषय है और उसे आधुनिक विज्ञान का समर्थन प्राप्त है।[1]

---

१. सदर्भ —१ दसवेआलिय, ४।५-८
२ दसवेआलिय हा० टी० प० १३८
३ आयारो–१।१
४. जैन-दर्शन मनन और मीमासा, पृष्ठ २८१
५ श्री भिक्षु न्याय कर्णिका ७।११।

जन्मान्तर यात्रा (गतिचक्र)

दीघा जागरतो रत्ती, दीघो सतस्स जोयण ।
दीघो बालानं ससारो, सद्धम्म अविजानतो ॥ (धम्मपद)

अनिद्रा रोग से ग्रस्त व्यक्ति के लिए रात लम्बी हो जाती है, थके हुए पथिक के लिए एक योजन का मार्ग भी लम्बा हो जाता है, वैसे ही धर्म का मर्म न जानने वाले अज्ञानी प्राणी का ससार लम्बा हो जाता है। जैसे कोई दृष्टिहीन व्यक्ति गहन जगल मे फस जाता है तो कठिन होता है उससे निकलना, वैसे ही चतुर्गतिमय ससार कान्तार दुरन्त है। उसका रास्ता बहुत लम्बा है। मोह-मूढ व कर्मों से बधे प्राणी अनादि काल से उसमे परिभ्रमण कर रहे हैं। वे न तो उसका पार पा रहे हैं और न ही उन्हे निकलने का कोई उपाय सूझ रहा है। बस, भटकना ही उनकी नियति है। जन्म और मृत्यु की परम्परा को वे निरन्तर दुहराते रहते हैं।

"जायन्ते ये म्रियन्ते ते, मृताः पुनर्भवन्ति च ।"

जो जन्मते हैं, वे मरते हैं, जो मरते हैं उनका पुनर्जन्म भी होता है। यह पूर्वजन्म व पुनर्जन्म ही ससार की यात्रा है। प्रत्येक ससारी प्राणी सशरीरी होता है। वह जन्मान्तर की यात्रा सूक्ष्म शरीर से करता है। कर्म शरीर और तैजस् शरीर, जिसे विद्युतीय शरीर भी कह सकते हैं—सूक्ष्म होते हैं और वे मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं। मरणोपरात स्थूल-शरीर पीछे छूट जाता है। कर्म शरीर कारण शरीर है। उसके आधार पर जीव नए शरीर का निर्माण कर लेता है।

गेहात् गेहान्तरं यान्ति मनुष्या गेहवर्तिन ।
देहात् देहान्तर यान्ति प्राणिनो देहवर्तिनः ।। (सबोधि १५।२३)

जैसे गृहस्वामी मनुष्य एक घर को छोड, दूसरे घर मे चला जाता है, वैसे ही देहवर्ती प्राणी एक देह को छोड, दूसरी देह का निर्माण कर लेते हैं। इस जन्मान्तर-गामिनी यात्रा के चार पडाव हैं। जैन तत्त्व की भाषा मे इसे चार गति के रूप मे जाना जाता है।

गति का अर्थ है—एक जन्म स्थिति से दूसरी जन्म-स्थिति को प्राप्त करने के लिए होने वाली जीव की यात्रा। गति चार हैं—

१ नरक गति।
२. तिर्यञ्च गति।
३ मनुष्य गति।

४ देव गति ।

नारक—नरक गति मे रहने वाले जीव नारक कहलाते हैं। नारक जीवों के आवास-स्थल रत्न प्रभा, शर्करा प्रभा आदि सात पृथ्वियां हैं। ये पृथ्विया नीचे लोक मे हैं। वहा के निवासी कष्ट-बहुल जीवन जीते हैं। अत्यधिक शारीरिक और मानसिक यातनाए भोगते हैं। उनकी यातना—वेदना तीन प्रकार की होती है—

१. उस क्षेत्र के प्रभाव मे होने वाली वेदना।
२ नारक जीवो द्वारा परस्पर लडाई-झगडा कर उत्पन्न की गई वेदना।
३ परमाधार्मिक देवो द्वारा दी जाने वाली वेदना।

इन देवो द्वारा दी जाने वाली यातना प्रथम तीन नरक भूमियो मे होती है। उससे आगे दो ही प्रकार की वेदना रहती है। नारक जीवो की वेदना उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इन नरक भूमियो मे उन जीवो को जाना पड़ता है, जो अत्यन्त क्रूर कर्मों व बुरे विचारो वाले होते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार रत्नप्रभा नाम की प्रथम नरक भूमि के ऊपर यह मनुष्य लोक अवस्थित है।

तिर्यंच—मनुष्य के सिवाय सारे दृश्यमान प्राणी-जगत् का समावेश तिर्यंच गति मे हो जाता है। जीव जगत् का बहुत बडा भाग इसमे समा जाता है। यानी जीवो की सर्वाधिक सख्या इसी गति मे है। एक इन्द्रिय वाले जीवो से लेकर चार इन्द्रिय वाले जीवो तक सभी जीव तिर्यंच ही होते हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति (पेड-पौधे आदि) एकेन्द्रिय तिर्यंच है। कृमि, चीटी, मक्खी, मच्छर—ये क्रमश दो, तीन एव चार इन्द्रिय वाले प्राणी हैं। ये सभी तिर्यंच हैं। कुछ पचेन्द्रिय जीव भी तिर्यंच होते हैं, जैसे—पशु-पक्षी आदि। पचेन्द्रिय तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं। मछली आदि जलचर पचेन्द्रिय है। गाय, भैंस आदि स्थलचर पचेन्द्रिय हैं।

तिर्यंच गति मे कुछ जीव बहुत शक्तिशाली होते हैं। उनमे ज्ञान-चेतना भी विकसित होती है। कभी-कभी लगता है, उनकी शक्ति और बुद्धि के सामने मनुष्य का शरीर-बल और बुद्धि-बल नगण्य है। फिर भी उनकी अपेक्षा मनुष्य योनि श्रेष्ठ है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की विवेक-चेतना जागृत होती है। अन्य प्राणियो मे उसका अभाव होता है। इस दृष्टि से तिर्यंच गति को अप्रशस्त माना गया है।

मनुष्य—जिसमे चिंतन, मनन और अनुशीलन की क्षमता होती है, वह मनुष्य है। मनुष्य सर्वाधिक विकसित चेतना वाला प्राणी है। उसमे विकास की अनन्त सभावनाए हैं। मृत्यु के पश्चात वह पुन मनुष्य देह धारण कर सकता है तथा देव योनि, तिर्यंच योनि या नैरयिक स्थिति को भी

प्राप्त कर सकता है। अध्यात्म साधना द्वारा चेतना का विकास कर वह नर से नारायण बन सकता है, आत्मा से परमात्मा बन सकता है। सरल भाषा मे समझें तो गतियो मे एक मनुष्य गति ही ऐसी है, जहा से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। मनुष्य मे वह क्षमता है कि यदि वह ऊपर उठे तो लोक शीर्ष पर सिद्धात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित हो सकता है और गिरे तो महानरक—सातवी नरक भूमि मे भी जा सकता है। यह सब आत्मा की शुद्धि, अशुद्धि तथा उसकी तरतमता पर निर्भर है।

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—कर्म-भूमिज, अकर्म-भूमिज और समूर्च्छिम। कर्म-भूमिज मनुष्य कर्म-क्षेत्र मे उत्पन्न होते हैं। वे असि, मसि, कृषि आदि साधनो द्वारा जीविका चलाते हैं। ऋषि-परम्परा के सवाहक कर्म-क्षेत्र मे उत्पन्न मनुष्य ही बनते हैं। ये मनुष्य पुरुषार्थ-प्रधान होते हैं।

अकर्म-भूमिज मनुष्य "यौगलिक" कहलाते हैं। इन्हे जीवन-निर्वाह के लिए असि, मसि, कृषि रूप पुरुषार्थ की अपेक्षा नही रहती। उनके जीवन-यापन के साधन कल्पवृक्ष होते हैं। उनके जीवन की आवश्यकताए इतनी न्यूनतम होती हैं कि कल्पवृक्ष से जो कुछ प्राप्त होता है, उसी से वे सतुष्ट हो जाते हैं।

समूर्च्छिम मनुष्य नाम से तो मनुष्य ही हैं, पर उनमे मनुष्यता जैसा कुछ भी नही है। मानव-शरीर से विसर्जित मल-मूत्र आदि चौदह स्थानको मे उन जीवो की उत्पत्ति है। वे पचेन्द्रिय होते हैं, पर असज्ञी (असन्नी) होते है। उनमे मानसिक सवेदन नही होता। उन्हें मनुष्य गति प्राप्त है, पर प्रगति के द्वार बन्द हैं। अल्पायुष्य होने के कारण अपर्याप्त दशा मे मर जाते हैं।

देव—दिव्य लोक मे विहार करने वाले देव कहलाते हैं। देवो का शरीर दीप्तिमान होता है। वह मनुष्य शरीर की भाति अस्थि, मज्जा आदि धातुओ से निर्मित नही है। उनके शरीर को वैक्रिय शरीर कहते हैं। देव इच्छानुसार विविध रूपो का निर्माण कर सकते हैं। इस प्रक्रिया को विक्रिया (विकुर्वणा) कहते हैं।

जैन-आगमो मे देवो के चार प्रकार बतलाए गए हैं—भवनपति, वानव्यतर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

असुर कुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवो के आवास नीचे लोक में हैं। पिशाच, भूत, यक्ष आदि व्यतर देव तथा सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्क देव (तिरछे) मध्य लोक मे रहते हैं। वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—१ कल्पोपन्न २ कल्पातीत। बारह देवलोक के देव कल्लोपन्न हैं। वहा का सचालन स्वामी-सेवक आदि व्यवस्थाओ के आधार पर होता है। उनसे ऊपर नव ग्रैवेयक और पाच अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत होते हैं। वे देव स्वत शासित हैं। व्यवस्थाए स्वय सचालित हैं। वहा स्वामी-सेवक

जैसी कोई भेद-रेखा नही है। वहा का प्रत्येक सदस्य अहमिंद्र है।

देवता व नारक जीव अपनी गति का आयुष्य पूर्ण कर पुन देव और नारक नही बन सकते। मनुष्य और तिर्यंच चारो गतियो मे से किसी भी गति मे उत्पन्न हो सकते हैं। मोक्ष की प्राप्ति केवल मनुष्य गति से ही सभव है।

मनुष्य व पशु-पक्षी आदि तिर्यंच हमारे प्रत्यक्ष हैं। स्वर्ग व नरक हमारे प्रत्यक्ष नही हैं। सामान्यत मनुष्य का विश्वास प्रत्यक्ष पर होता है, परोक्ष पर नही। वह परोक्ष या अदृश्य वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार नही करता। इसीलिए भगवान महावीर ने कहा —

नरको नाम ना स्तीति नैव सज्ञा निवेशयेत्।
स्वर्गो नाम ना स्तीति नैव सज्ञा निवेशयेत्॥ (संबोधि १०/२६)

नरक नही है—ऐसा सकल्प मत करो। स्वर्ग नही है—ऐसा सकल्प मत करो। प्रत्यक्ष न होने मात्र से किसी के अस्तित्व को नकार देना सत्य के साथ आख-मिचौनी करना है। वैसे सभी आस्तिक दर्शन स्वर्ग व नरक के अस्तित्व को मानते हैं।

गति-चक्र की मीमासा के सदर्भ मे यह जानना भी आवश्यक है कि प्राणी कौन-से आचरण से किस गति मे जाता है, किस योनि मे उत्पन्न होता है।

नरक गति के कारण

पचेन्द्रिय वध, महा-आरम्भ (हिंसा), महा-परिग्रह और मासाहार—ये नरक गति के हेतु हैं।

तिर्यंच गति के कारण

माया-प्रवचना, असत्य भाषण और कूट-तोल, कूट-माप ये तिर्यंच गति के हेतु हैं।

मनुष्य गति के कारण

विनीत, सरल, अल्पारभी, अल्प-परिग्रही, दयालु और मात्सर्य रहित होना मनुष्य गति का हेतु है।

देव गति के कारण

सराग सयम – अवीतराग दशा मे होने वाली सयम-साधना, श्रावक धर्म का पालन करना, अकाम-निर्जरा – मोक्ष की इच्छा बिना किए गए तप से होने वाली आत्मशुद्धि और अज्ञान तप—ये देव गति के हेतु हैं।

इन चारो गतियो मे ससारी प्राणी अपने कृत कर्मों का भोग करते हैं। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नही है कि इस जन्म मे किए गए सुकृत या दुष्कृत का परिणाम अगले

जन्म मे ही मिलता है। वस्तुत देखा जाए तो स्वर्गीय सुख, नारकीय दु ख, पशुता और मानवता ये सब मानवीय मनोवृत्ति, उसके चिंतन और व्यवहार पर निर्भर है। सयम और सतुलन का जीवन जीने वाला इसी जन्म मे स्वर्गीय सुखो का अनुभव करता है। इसके विपरीत वासना, व्यसन और विवेक-हीनता का जीवन जीने वाला इसी जन्म को नरक बना लेता है।

स्वर्ग और नरक की व्याख्या के पश्चात् शिक्षक ने छात्रो से पूछा—विद्यार्थियो ! आप मे से नरक जाना कौन पसन्द करेगा ? स्वीकृति मे किसी का हाथ ऊपर नही उठा। शिक्षक ने दूसरी बार पूछा—अब बताए, स्वर्ग जाना कौन पसन्द करेगा ? एक लडके को छोड सबके हाथ ऊपर उठ गए। शिक्षक ने पूछा क्यो मनीष ! तुम्हे कही नही जाना है ? मनीष का उत्तर था—मुझे कही जाने की अपेक्षा नही है, मैं जहा रहूगा, वही स्वर्गीय वातावरण का निर्माण करूगा।

पाशविक वृत्तियो का परिष्कार कर मानवीय चेतना का विकास ही दिव्यता की दिशा को उजागर करता है।

सदर्भ —

१ सबोधि १५/२२,२३।
२ जैन तत्त्व विद्या १/५।
३. ठाण—४/४/६२८ से ६३१।

शक्ति-स्रोत-पर्याप्ति

सांसारिक जीव किसी न किसी रूप मे प्रवृत्ति करता रहता है, जैसे—आहार, स्पदन, सवेदन, चिंतन, मनन, भाषण आदि। ये सब क्रियाए विशिष्ट शक्तियो के द्वारा ही सपादित होती हैं। इनमे से पहली शक्ति है प्राण तथा दूसरी शक्ति है पर्याप्ति की। प्राण-शक्ति और पर्याप्ति शक्ति—इन दोनो के सहयोग से ही प्राणी अपनी जीवन-यात्रा चलाता है।

प्राण आत्मिक शक्ति है, पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति। जैसे—बोलने मे जो ध्वनि का आत्मीय प्रयत्न होता है वह प्राण है और उस प्रयत्न के अनुसार जो शक्ति भाषा-योग्य पुद्गलो का सग्रह करती है, वह है पर्याप्ति।

पर्याप्ति

जब तक आत्मा कर्म-मुक्त नही हो जाती, उसकी जन्म-मरण की परम्परा नही रुकती। मृत्यु के बाद जन्म निश्चित है। जन्म का अर्थ है उत्पन्न होना, एक देह त्याग कर दूसरे देह का निर्माण करना। जन्मांतर-यात्रा के समय प्राणी का स्थूल शरीर छूट जाता है, वह सूक्ष्म शरीर—तैजस, कार्मण के वाहन पर आरूढ हो, आगे की यात्रा तय करता है। भावी जन्म मे उन्ही सूक्ष्म शरीरो के माध्यम से पुन नये स्थूल शरीर का निर्माण करता है। उसकी प्रक्रिया और क्रम भी ज्ञातव्य है।

जीव एक जन्म-स्थिति को पूरी कर दूसरे जन्म-स्थान मे आता है, तब वह सबसे पहले आहार ग्रहण करता है, स्वप्रायोग्य पुद्गलो का आकर्षण और सग्रह करता है। इसके अनतर वह समूचे जीवन-निर्वाह के लिये पौद्गलिक शक्तियो का क्रमिक विकास करता है।

संसारी प्राणी को चाहे वह किसी भी जीव-योनि मे उत्पन्न हो, जीवित रहने के लिए किसी पुष्ट आलबन की अपेक्षा रहती है। वह आलबन प्राण-शक्ति तो है ही, उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार की पौद्गलिक शक्ति भी आवश्यक है जो जैन तत्त्व विद्या मे "पर्याप्ति" के नाम से पहचानी जाती है।

पर्याप्ति का सीधा अर्थ है—जीवन-धारण मे उपयोगी पौद्गलिक शक्ति। यह जैन जीव-विज्ञान का पारिभाषिक शब्द है।

"भवारंभे पौद्गलिक सामर्थ्य-निर्माण पर्याप्ति" (जै. सि दीपिका

३/१०) जन्म के प्रारम्भ मे पौद्गलिक सामर्थ्य के निर्माण को पर्याप्ति कहते हैं।

जन्म के प्रारम्भ मे तैजस-कार्मण शरीर द्वारा गृहीत पुद्गल-समूह से जीव जिस जीवनोपयोगी पौद्गलिक शक्ति या शरीर-उपकरणो का निर्माण करता है, वह पर्याप्ति है। यानी वह उन गृहीत पुद्गलो को आहार, शरीर, इन्द्रिय, मन आदि रूपो मे परिणत कर वैसी पौद्गलिक क्षमताओ का अर्जन कर लेता है जिससे, उसकी जीवन-यात्रा मे कठिनाई न हो। वे शक्तिया मुख्यत ६ प्रकार की होती हैं, अत पर्याप्तिया भी छह हैं—(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति (५) भाषा पर्याप्ति (६) मन पर्याप्ति।

जैन तत्त्व ज्ञान मे दो शब्दो का काफी प्रयोग होता है—पर्याप्त और अपर्याप्त। पर्याप्त का सीधा अर्थ होता है पूर्ण, अपर्याप्त का सामान्य अर्थ समझा जाता है अपूर्ण। किन्तु यहा इसका अर्थ भिन्न होता है। जिस प्राणी को जिस जीवन मे जितनी पर्याप्ति का प्रबध करना होता है, वह प्रबध पूरा हो जाता है तो वह प्राणी पर्याप्त कहलाता है, जब तक वह काम पूरा न हो जाये वह अपूर्ण है अपर्याप्त है। पर्याप्त-निर्माण से पूर्व ही जिस जीव की मृत्यु हो जाती है, वह भी अपर्याप्त कहलाता है। ये पर्याप्तिया देहधारी प्राणियो के शक्ति-स्रोत हैं।

पर्याप्तियो के लाभ

(१) आहार पर्याप्ति को पूर्ण कर लेने वाला प्राणी शरीर आदि पाचो पर्याप्तियो के योग्य पुद्गलो का ग्रहण कर लेता है। इसके द्वारा वह जीवन भर आहार करने की क्षमता अर्जित कर लेता है। प्राण धारण करने के लिए बाहरी पुद्गलो का आकर्षण आहार कहलाता है। प्राणी छहो पर्याप्तियो (शक्ति स्रोतो) के लिए आहार ग्रहण करता है। वह छहो दिशाओ से लिया जाता है। इनमे ऊर्ध्व दिशा अर्थात् सिर और अधो दिशा अर्थात पैरो से आहार का ग्रहण अधिक मात्रा मे होता है। आहार पर्याप्ति द्वारा जीव जीवन भर आहार-प्रायोग्य पुद्गलो के ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करने की क्षमता अर्जित कर लेता है।

(२) शरीर पर्याप्ति द्वारा शरीर के अगोपागो का निर्माण होता है। शरीर पर्याप्ति के कार्य को शरीर-शास्त्रीय दृष्टि से अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है।

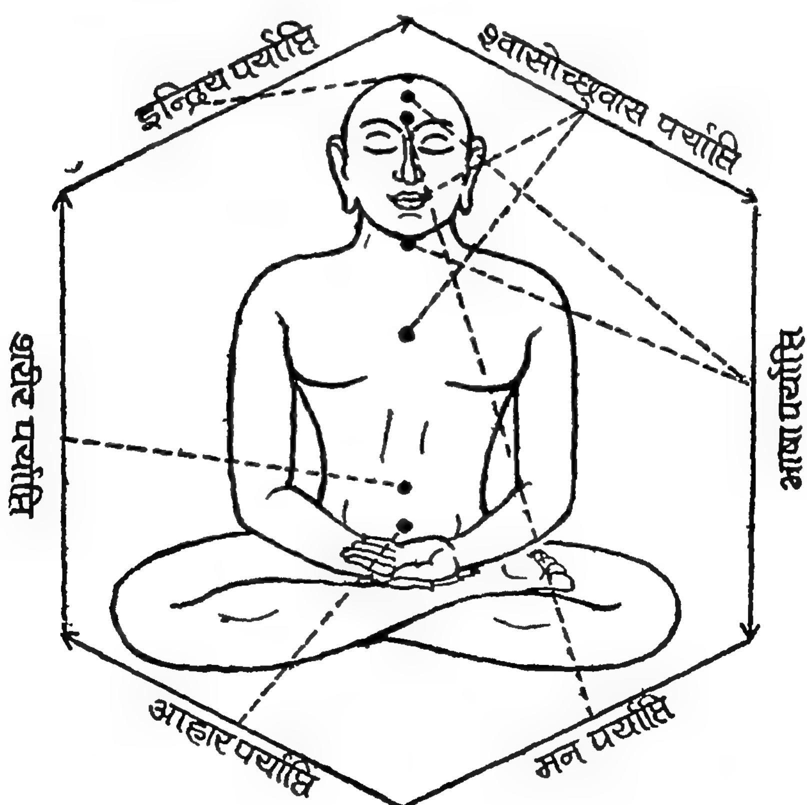
प्रत्येक जीव चाहे वह छोटा प्राणी हो या मनुष्य, अपने जीवन का प्रारम्भ एक कोशिका से करता है। एक कोशिका से प्रारम्भ कर मनुष्य का शरीर कोशिका-विभाजन द्वारा अपने आपको पुन दोगुना करता है। इस

लिये तथा व्यक्तियो के आने-जाने के लिए द्वार, जाली झरोखे तथा खिड़कियां रखी जाती हैं, वैसे ही चेतना की रश्मियो के निर्गमन तथा प्रकटीकरण के माध्यम हैं—इन्द्रिया, श्वासोच्छ्वास तथा भाषा पर्याप्ति।

मकान बनाने के बाद मकान-मालिक उसका उपयोग आवश्यकता और मौसम के अनुसार करता है। जैसे सर्दी मे निवाये कमरो का तथा गर्मी मे ठडे-हवादार कमरो का। खिड़कियो को कब खोलेगा, कब बन्द करना—यह सब भी उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है। इसी प्रकार कब क्या करना है, कैसे करना है, यह सब शक्ति मन पर्याप्ति सापेक्ष है।

ये छह पर्याप्तिया स्थूल शरीर के छह शक्ति-स्रोत हैं और तैजस शरीर के सवादी केन्द्र हैं। इनके माध्यम से ही प्राण के परमाणुओं का आकर्षण, परिणमन और उत्सर्जन होता है।

इसका रेखाकन इस प्रकार है—



शरीर मे पर्याप्तियों का स्थान :—

पर्याप्ति	स्थान
आहार पर्याप्ति	स्वास्थ्य-केन्द्र; शक्ति-केन्द्र
शरीर पर्याप्ति	नाभि-तैजस-केन्द्र

इन्द्रिय पर्याप्ति	मस्तिष्क के विभिन्न भाग
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	नाक से श्वास नली और फुफ्फुस तक
भाषा पर्याप्ति	अग्र मस्तिष्क में स्वर यंत्र, ज्योति-केन्द्र
मन पर्याप्ति	मस्तिष्क-दर्शन-केन्द्र का भाग।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के प्रारम्भ में पूर्ण ही निष्पन्न हो जाते हैं, और जीवन भर सक्रिय रहते हैं।

आहार पर्याप्ति एक समय में पूर्ण हो जाती है। शेष पांच पर्याप्तियों की निष्पत्ति में एक-एक अन्तर्मुहूर्त समय लगता है, लेकिन सब के निर्माण-कार्य का प्रारम्भ एक साथ होता है।

सब संसारी प्राणियों के पर्याप्तियां एक समान नहीं होतीं, उनमें कम-ज्यादा तारतम्य होता है। पांच स्थावर कायिक जीवों—पृथ्वी, जल, हवा, अग्नि और वनस्पति में चार पर्याप्तियां होती हैं, उनमें भाषा और मन नहीं होता।

तीन विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी-तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों में पर्याप्तियां पांच होती हैं। उनके मन नहीं होता। देवों के पांच पर्याप्तियां होती हैं, उनके मन तथा भाषा पर्याप्ति का केन्द्र एक ही होता है।

असंज्ञी मनुष्य के प्रथम तीन पर्याप्तियां पूर्ण होती हैं। और श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति अपूर्ण रह जाती है। इसलिए सिद्धान्त की भाषा में उसके साढ़े तीन पर्याप्तियां मानी जाती हैं। मूल बात यह है कि उनका श्वास-प्रश्वास का तन्त्र इतना दुर्बल होता है कि उसमें प्रश्वास की क्रिया निष्पन्न हो सकती है, निःश्वास की क्रिया सम्पन्न नहीं होती।

नरक, स्वर्ग, तिर्यंच और मनुष्य में पर्याप्तियां छह होती हैं। सिद्धों में पर्याप्तियां नहीं होतीं। क्योंकि पर्याप्तियां नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती हैं। जबकि सिद्ध कर्म-मुक्त होते हैं।

जीवो के क्रमिक विकास की दृष्टि से इन्द्रिय, मन आदि का जितना मूल्य है, पर्याप्तियो का मूल्य उनसे कम नही है। ये भौतिक होते हुए भी प्राण-शक्ति की सचालिका है। चित-शुद्धि, मस्तिष्क-विकास तथा आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से भी पर्याप्ति-विज्ञान बहुत ही मूल्यवान् है।

सदर्भ —

१ जैन सिद्धान्त दीपिका ३/१०, ११ (गणाधिपति श्री तुलसी)
२ जैन तत्त्व विद्या पृष्ठ ९, २५, २८ (गणाधिपति श्री तुलसी)
३ जैन दर्शन मनन और मीमासा पृष्ठ २५६ (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)
४ प्रेक्षाध्यान— प्राणविज्ञान (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

जीवन-शक्ति-प्राण

ससार मे दो प्रकार के पदार्थ हैं—सजीव और निर्जीव । इन दोनो पदार्थों की रचना रासायनिक तत्त्वो के सयोग-वियोग से होती है । जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाजमा) की आतरिक सरचना मे कोई रासायनिक विलक्षणता वैज्ञानिक प्रयोगो से सिद्ध नही हुई है । ऐसी स्थिति मे प्रश्न स्वाभाविक है कि फिर ऐसी कौनसी गुणात्मक भिन्नता है, जो सजीव और निर्जीव के बीच भेद-रेखा उत्पन्न करती है । जैन सिद्धात के अनुसार जीव और निर्जीव की विभाजक रेखा है—पर्याप्ति और प्राण । जिनमे आहार करने, शरीर-रचना करने तथा श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव हैं, जिनमे ये शक्तिया नही हैं, निर्जीव हैं । पर्याप्ति और प्राण का योग ही जीवन है । इनका वियोग मृत्यु है ।

भाषा-शक्ति और चिंतन-शक्ति जीव के लक्षण नही हैं, किंतु वे विकास के अग्रिम बिंदु हैं ।

हम निरन्तर अपने शरीर के साथ रहते हैं । उसकी देखभाल का पूरा ध्यान रखते हैं । उसके विकास और स्वास्थ्य के प्रति सजग रहते हैं । पर शरीर रूपी यत्र किन शक्तियो से सचालित है—यह बहुत कम लोग जानते हैं ।

हमारा शरीर जिन शक्तियो से सचालित है, उसमे एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है "प्राण" । हमारा सारा जीवन प्राण रूपी इधन से ही सचालित है । इसे आधुनिक विज्ञान की भाषा मे "वाइटल फोर्स" कह सकते हैं ।

जीवन-शक्ति प्राण

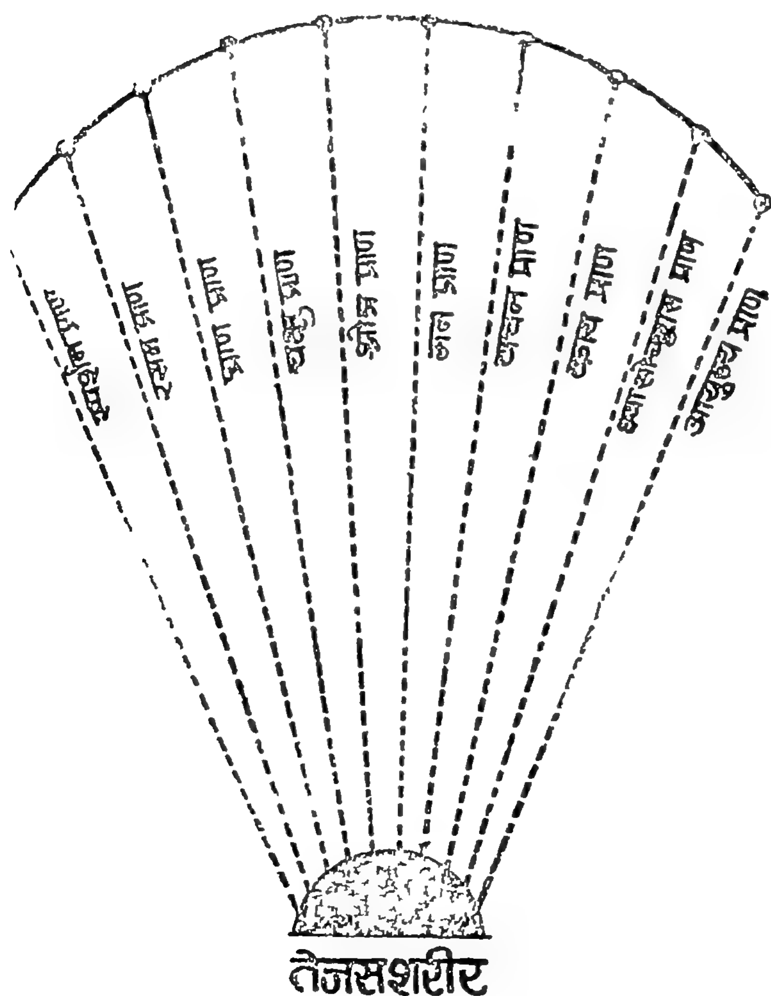
"इन्द्रियबलोच्छ्वासनिश्वासायूंषि" (आचार्यश्री तुलसी)

जैन सिद्धांत दीपिका ३/१२-१३ ।

प्राण का अर्थ है जीवनी शक्ति । जीवन के लिए भोजन, पानी और हवा जितने आवश्यक हैं, उससे कही अधिक जरूरी है प्राण-शक्ति । स्थूल शरीर मे जितनी सक्रियता और गतिशीलता है उसका कारण प्राण-शक्ति ही है । दूसरे शब्दो मे कहें तो मन, वाणी और कर्म की सपादन-शक्ति का नाम प्राण है । हमारे शरीर, मन, चित्त और भावधारा मे जो भी स्पदन, प्रकम्पन हैं, जो भी गतिशीलता है, उसका स्रोत है—प्राण का प्रवाह । हमारे आस-पास जो शक्ति, ऊर्जा, प्रकाश और चुम्बकीय धाराए गुजरती है, वे प्राण-शक्ति के प्रमाण हैं ।

प्राण-शक्ति का मूल्य-स्रोत तैजस शरीर है। तैजस शरीर हमारे समूचे स्थूल शरीर मे फैला हुआ है। फिर भी उसके दो विशेष केन्द्र हैं—मस्तिष्क और पृष्ठभाग। वहा से निकलकर तैजस शक्ति शरीर की सारी क्रियाओ का सचालन करती है। हालाकि तैजस शरीर से एक प्रकार की प्राण-शक्ति प्रवाहित होती है। यह प्राण-शक्ति स्थूल-शरीर के साथ जुडकर अनेक प्रकार के कार्य करती है। कार्य-भेद के कारण वह दस भागो मे विभक्त हो जाती है।

निम्नाकित रेखाकन से प्राण की उत्पत्ति और उसके परिपथो का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है :—



प्राण दस हैं—

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्राण
२ चक्षुरिन्द्रिय प्राण
३ घ्राणेन्द्रिय प्राण
४ रसनेन्द्रिय प्राण
५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण
६ मनोबल प्राण
७ वचन बल प्राण
८ कायबल प्राण
९ श्वासोच्छ्वास प्राण
१० आयुष्य बल प्राण

इससे ज्ञात होता है कि हमारे शरीर मे अनेक प्रकार की प्राण-धाराए है। इन्द्रिय की अपनी प्राण-धारा है। मन, शरीर और वाणी की अपनी प्राण-धारा है। श्वास-प्रश्वास तथा जीवनी-शक्ति की भी स्वतत्र प्राण-धाराए हैं। चेतना का तैजस-शरीर के साथ योग होता है और प्राण-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इन प्राण-धाराओ के आधार पर शरीर की विभिन्न क्रियाओ का सचालन होता है।

इस सदर्भ मे एक बात विशेष ज्ञातव्य है कि पर्याप्ति और प्राण—ये न तो चेतना की विशुद्ध अवस्था मे होते हैं और न अचेतन मे होते हैं। ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते हैं। ससार मे जितने प्राणी हैं, वे सब यौगिक हैं। चेतन और अचेतन (पुद्गल) के सयोग की अवस्था मे हैं। चैतन्य का शुद्ध स्वरूप प्रकट न होने के कारण वे केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही हैं। वे न्यूनाधिक मात्रा मे ही सही अनुभव-शक्ति और ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न हैं। इसलिये केवल अचेतन (जड) की भूमिका मे नही हैं बल्कि चेतन और अचेतन की सयुक्त भूमिका मे हैं।

प्राणियो के शरीर के माध्यम से जो क्रियाए होती हैं, वे सब आत्म-शक्ति और पौद्गलिक शक्ति दोनो के पारस्परिक सहयोग से सम्पन्न होती हैं। पर्याप्ति पौद्गलिक शक्ति है और प्राण आत्मिक शक्ति है।

पर्याप्तिया शक्ति-स्रोत हैं, जबकि प्राण शक्ति-केन्द्र। इनमे परस्पर काय-कारण-सबध है। सख्या-विस्तार को सक्षेप मे लेने पर दोनो की सख्या समान हो जाती है।

पर्याप्ति	प्राण
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	काय बल प्राण

इन्द्रिय पर्याप्ति — इन्द्रिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति — श्वासोच्छ्वास प्राण
भाषा पर्याप्ति — वचनबल प्राण
मन पर्याप्ति — मनोबल प्राण

इस प्रकार उक्त पर्याप्तिया और प्राण सापेक्ष है।

प्राण जीवन-शक्ति है और पर्याप्ति भौतिक-शक्ति। जीवन-शक्ति को सदा पौद्गलिक शक्ति की अपेक्षा रहती है। इसलिये प्रत्येक प्राणी नये जन्म के प्रारम्भ मे ही अनेक प्रकार की पौद्गलिक शक्तियो की रचना करता है।

जैसे पर्याप्तिया सब जीवो मे समान नही होती, वैसे ही प्राण-शक्तिया भी सब मे बराबर नही होती। तथापि जीने के लिए कम से कम चार प्राण-शक्तिया तो अवश्य होती हैं। शरीर, श्वास-उच्छ्वास, आयुष्य और स्पर्शन इन्द्रिय —ये चार जीवनी-शक्तिया प्राणी-जगत के जीवन हेतु आधारभूत मानी जाती हैं। अर्थात् जीवन-यापन के लिये कम से कम चार प्राण-शक्तियो का होना तो जरूरी है। जैन जीव-विज्ञान के अनुसार सबसे कम विकसित चेतना वाले जीव हैं—एकेन्द्रिय—पाच स्थावर निकाय के जीव। उनमे चार प्राण हैं। उसके आगे चेतना का जितना-जितना अधिक विकास होता है, द्वीन्द्रिय आदि जीवो मे प्राण-शक्तिया भी क्रमश विकसित होती हैं। सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो को दसो प्राण-शक्तिया उपलब्ध हो जाती हैं।

प्रश्न होता है, तात्विक दृष्टि से पर्याप्तियो और प्राण-शक्तियो को जान लेने से क्या हमारे अस्तित्व और व्यक्तित्व के विकास की नई दिशाए उद्घाटित हो सकती हैं ?

प्रेक्षा-ध्यान और जीवन विज्ञान के परिप्रेक्ष्य मे इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक दिया जा सकता है।

उक्त शक्ति-स्रोतो और शक्ति-केन्द्रो के विकास से ही विकास की समस्त दिशाए प्रस्फुटित होती हैं, प्रखर होती हैं और परिष्कृत होती हैं। इससे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और आध्यात्मिक विकास की ऊचाइयो को हासिल किया जा सकता है। हमारे प्रत्येक कार्यक्षेत्र की सफलता के आधारभूत तत्व—इच्छा शक्ति का विकास, सकल्प शक्ति का विकास, एकाग्रता की शक्ति का विकास—ये सारे प्राण ऊर्जा के विकास पर निर्भर हैं। प्राण हमारे शरीर की विद्युत ऊर्जा है। आधुनिक विज्ञान के यान्त्रिक विकास और तान्त्रिक विकास का स्रोत विद्युतीयशक्ति का विकास ही है। कम्प्यूटर, रडार राकेट और रोबोट युग का विकास भी विद्युत का ही चमत्कार है।

यद्यपि ससार के सभी प्राणियो को प्राण की शक्ति प्राप्त है, पर उसके विकास की क्षमता सब मे नही होती। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो प्राण ऊर्जा का प्राण, विद्युत का समुचित विकास कर सकता है नये

आयाम मे प्रवेश पा सकता है ।

दीर्घ श्वास प्रेक्षा, समवृति श्वास प्रेक्षा, श्वास सयम, शरीर प्रेक्षा, चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, मंत्र, जप आदि प्रयोगो से प्राण विद्युत सचित, सतुलित और विकसित होती है । इससे मनुष्य शरीर का केन्द्रीय-नाडी सस्थान और परिधिगत नाडी सस्थान सशक्त बनता है । मानवीय मस्तिष्क की अपार क्षमताए जाग जाती हैं । भावना-तंत्र निर्मल और नियंत्रित होता है । इससे मानवीय व्यवहारो का परिष्कार होता है, वृत्तियो मे परिवर्तन होता है । अत अपेक्षित है, हम अपने जीवन-विकास के मौलिक आधार "पर्याप्ति और प्राण" को मात्र सैद्धांतिक दृष्टि से ही न जानें, अध्यात्म विकास तथा साधना के विभिन्न कोणो से भी जानें ।

प्रेक्षा-ध्यान के आलोक मे हमे यह भी जानने को मिला है कि पर्याप्तियो और प्राण-शक्तियो के मूल केन्द्र-बिन्दु हमारे शरीर मे कहा हैं ? जिनकी प्रेक्षा कर हम उन्हे और अधिक निर्मल एव जागृत बना सकते हैं ।

छहो पर्याप्तियो से सबधित दस प्राणो के केन्द्र हमारे मस्तिष्क मे हैं ।

इन्द्रिय पर्याप्ति और प्राण के पाच केन्द्र हैं —

(१) स्पर्शन का केन्द्र—ज्ञान-केन्द्र और शाति-केन्द्र के मध्य का भाग ।

(२) रसन का केन्द्र—बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क के सधि स्थल से थोडा ऊपर ।

(३) घ्राण का केन्द्र—चक्षु-केन्द्र की सीध मे दाये भाग में ।

(४) चक्षु का केन्द्र—ज्ञान-केन्द्र के पीछे बृहत् मस्तिष्क के अत मे ।

(५) श्रोत्र का केन्द्र—कनपटी की सीध में भीतर ।

(६) मन का केन्द्र—ज्ञान केन्द्र ।

(७) भाषा का केन्द्र—रसना-केन्द्र के नीचे ।

(८) शरीर का केन्द्र—मस्तिष्क के बिल्कुल सामने का भाग—फ्रटल लोब ।

(९) श्वासोच्छ्वास का केन्द्र—मेडूला ओबलोगाटा—लघु मस्तिष्क के नीचे और सुषुम्ना सीध के ऊपर ।

(१०) आहार-आयुष्य प्राण का केन्द्र—हाइपोथेलेमस । (शाति केन्द्र) की सीध मे भीतर गहरे में ।

निम्नाकित चित्र से यह और स्पष्ट हो जाएगा —



मस्तिष्क में दश प्राण प्रेक्षाकेन्द्र

प्राण शक्ति का विकास भी पर्याप्तियो के विकास और परिष्कार के विना सभव नही है।

आहार-सयम, योगासन, इन्द्रिय-सयम, श्वास-सयम, श्वास-प्रेक्षा, मौन, स्वर-यत्र का कायोत्सर्ग तथा ध्यान-योग—ये क्रमश छहो पर्याप्तियो या शक्ति-स्रोतो को पुष्ट और निर्मल बनाने के उपाय हैं। आध्यात्मिक वैज्ञानिक व्यक्तित्व के निर्माण में उक्त उपाय अह भूमिका निभा सकते हैं।

संदर्भ

१ जैन सिद्धात दीपिका —३/१२-१३ (गणाधिपति श्री तुलसी)
२ जैन तत्त्व-विद्या—पृष्ठ २७ (गणाधिपति श्री तुलसी)
३ जैन दर्शन · मनन और मीमासा, पृष्ठ २५६ (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)
४ प्रेक्षाध्यान प्राण-विज्ञान (आचार्यश्री महाप्रज्ञ)

शरीर और उसका आध्यात्मिक मूल्य

हमारा अस्तित्व चेतन और अचेतन का जटिलतम संयोग है। चेतन है हमारी आत्मा और अचेतन है शरीर।

आत्मा अरूप है, अरस है, अगंध है और अस्पर्श है, इसलिए वह अदृश्य है। शरीर से बंधी हुई है, इस दृष्टि से दृश्य भी है। संसारी आत्मा शरीर-मुक्त नहीं रह सकती। वह स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी-न-किसी शरीर के आश्रित रहती है। चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम शरीर है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध चिर-पुरातन है। जैन सिद्धांत की भाषा में अनादि है।

परिभाषा

"सुख-दुःखानुभवसाधनम् शरीरम्" (जै० सि० दी० ७/२४)। जिस के द्वारा पौद्गलिक सुख-दुःख का अनुभव किया जाता है, वह शरीर है।

जीव की जितनी प्रवृत्तियां होती हैं, वे सब शरीर के माध्यम से ही होती हैं। शरीर से सामान्यतः हमारा तात्पर्य इस अस्थि-मांस-युक्त स्थूल शरीर से ही समझा जाता है, जिसे "दि फिजिकल बॉडी" कहा जाता है। पर फिजिकल बॉडी के सिवाय भी कुछ ऐसे शरीर होते हैं, जिनसे हम परिचित नहीं हैं।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार शरीर के पांच प्रकार हैं—

(१) औदारिक
(२) वैक्रिय
(३) आहारक
(४) तैजस्
(५) कार्मण।

इन पांचों को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है।

स्थूल शरीर—औदारिक शरीर—हाड़-मांस आदि सप्त धातुओं द्वारा निर्मित शरीर।

सूक्ष्म शरीर—वैक्रिय शरीर—नाना रूप बनाने में समर्थ शरीर।

आहारक शरीर—विचार-संवाहक शरीर।

सूक्ष्मतम शरीर—तैजस्—तापमय शरीर।

कार्मण शरीर—कर्ममय शरीर।

इस वर्गीकरण से स्पष्ट हो जाता है कि औदारिक शरीर सबसे अधिक स्थूल होता है। वैक्रिय शरीर उससे अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। उससे सूक्ष्म आहारक शरीर होता है। आहारक से भी सूक्ष्म होते हैं तैजस और कार्मण शरीर।

औदारिक शरीर

यह शरीर रसादि धातुमय है। स्थूल पुद्गलो से निष्पन्न है। यह मृत्यु के बाद भी टिका रह सकता है। इसका छेदन-भेदन हो सकता है। यह अस्थि, मज्जा, मास, रुधिर आदि से निर्मित है इसलिए विशरण धर्मा है। यानी इसका स्वभाव है गलना-मिलना और विनष्ट होना। इस शरीर का चयापचय होता रहता है। इस शरीर की सबसे छोटी इकाई है कोशिका। प्रतिक्षण लाखो करोडो कोशिकाए नष्ट होती हैं और नयी कोशिकाए उत्पन्न होती रहती हैं।

शरीर भौतिक है। आत्म-स्वरूप की उपलब्धि मे या मुक्ति मे बाधक है। अवतार वे ही आत्माए लेती हैं जो सशरीरी हैं। सिद्धात्माए शरीर-मुक्त होती हैं। वे पुनः जन्म नही लेती। औदारिक शरीर मुक्ति का साधक भी है। वह इसलिए कि मोक्ष की साधना और प्राप्ति केवल औदारिक शरीर से ही सभव है।

यह औदारिक शरीर एकेन्द्रिय जीवो से लेकर मनुष्य और तिर्यंच-पचेन्द्रिय तक सब जीवो को प्राप्त होता है।

वैक्रिय शरीर

भाति-भाति के रूप बनाने मे समर्थ शरीर वैक्रिय कहलाता है। विक्रिया—विभिन्न प्रकार की क्रियाए घटित होना। वैक्रिय शरीर-धारी प्राणी छोटा-बडा, सुरूप-कुरूप, एक-अनेक चाहे जैसा, चाहे जितने रूप बना सकता है। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर का कोई अवशेष नही रह जाता। यह पारे की तरह बिखर जाता है।

देवो और नैरयिक जीवो के वैक्रिय शरीर होता है। मनुष्य और तिर्यंच मे भी यह सामर्थ्य हो सकती है। उसे वैक्रिय लब्धि कहते हैं।

वायुकाय मे सहज ही वैक्रिय शरीर होता है।

आहारक शरीर

यह विचारो का सवाहक शरीर है। इसमे विचार-सप्रेषण की अद्भुत् क्षमता होती है। विशिष्ट योग शक्ति-सम्पन्न चतुदर्श पूर्वधर मुनि विशिष्ट प्रयोजनवश एक विशिष्ट प्रकार के शरीर की रचना करते हैं। उसे आहारक शरीर करते हैं। इस शरीर के द्वारा प्रयोक्ता हजारो मीलो की दूरी को क्षण भर मे तय कर लक्षित व्यक्ति के पास पहुच जाता है।

उससे जिज्ञासा का समाधान पा कर या विचार-विमर्श कर पुनः यथास्थान आ जाता है। यह सारी क्रिया इतने कम समय में हो जाती है कि दूसरे व्यक्ति को पता भी नहीं चलता।

जैन-शास्त्रों में उल्लेख आता है कि किसी चौदहपूर्वी मुनि के पास यदि कोई व्यक्ति जिज्ञासा लेकर आए, किन्तु समय पर ज्ञानी मुनि प्रश्नकर्ता को सही उत्तर देने में समर्थ न हों तो वे आहारक नाम की विशिष्ट तपो-जनित शक्ति द्वारा अपने शरीर से एक हाथ प्रमाण पुतला निकालते हैं, उसे सर्वज्ञ के पास भेजते हैं, वह पुतला सर्वज्ञ भगवान से प्रश्न का उत्तर प्राप्त कर ज्ञानी मुनि के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है; मुनि उत्तर प्रदान कर प्रश्नकर्त्ता को संतुष्ट कर देते हैं। कदाचित् निर्दिष्ट स्थान पर सर्वज्ञ न मिलें तो उस पुतले से वैसा ही दूसरा पुतला निकलता है। सर्वज्ञ से समाधान प्राप्त कर पहले पुतले में प्रविष्ट होता है और पहला पुतला मुनि के शरीर में। मुनि प्रश्नकर्त्ता को समाधान दे संतुष्ट कर देते हैं।

आहारक शरीर औदारिक और वैक्रिय की अपेक्षा सूक्ष्म होता है तथा तैजस और कार्मण की अपेक्षा स्थूल होता है। फिर भी इसकी गति अव्य-वहित होती है। कहीं रुकावट नहीं आती।

आज विज्ञान एवं परामनोविज्ञान के क्षेत्र में टेलीपैथी तथा "प्रोजेक्शन ऑफ एस्ट्रल बॉडी" के प्रयोग-परीक्षण की व्यापक चर्चा है। कोस्मिक-रे-लेसर किरणों की अपार क्षमताओं की खोज प्रयोग और परीक्षण हो रहे हैं— उसके साथ में वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर पर विशेष अध्ययन, अनुशीलन किए जाएं तो आश्चर्यकारी रहस्य उद्घाटित हो सकते हैं।

तैजस शरीर

तेजोमय परमाणुओं से निष्पन्न शरीर तैजस शरीर है। यह तेजो-लब्धि, दीप्ति और पाचन का हेतु है। यह तापमय शरीर है। हमारी ऊष्मा, सक्रियता और शक्ति का संवाहक है। इसके बिना ऊष्मा उत्पन्न नहीं हो सकती, पाचन नहीं हो सकता, रक्त-संचार आदि क्रियाएं नहीं हो सकतीं। हमारे स्थूल शरीर की सारी क्रियाओं का संचालन इसी शरीर द्वारा होता है।

तैजस की समता अग्नि-समता का हेतु है। अग्नि की समता से प्रत्येक प्राणी आहार पचा पाता है। तैजस शरीर के मुख्यतया दो कार्य हैं—

१. शरीर-तंत्र का संचालन।

२. तेजोलब्धि की क्षमता।

हमारी जीवनी-शक्ति का आधार प्राण तत्त्व तैजस शरीर से ही संचालित होता है।

यह ऊर्जस्व शरीर है। इसे वेद के आचार्य प्राणमय कोष तथा

वैज्ञानिक "वाइटल बॉडी" बायो इलेक्ट्रीकल प्लाज्मा कहते हैं। सीधी भाषा मे कहें तो यह विद्युतीय शरीर है। ऊर्जा का अपार भडार है।

वैज्ञानिक आकडे बताते हैं कि मनुष्य-जीवन को सचालित करने के लिए जितनी प्रवृत्तिया होती हैं, उन प्रवृत्तियो मे जितनी विद्युत् या ऊर्जा खपती है, उससे एक बडी कपडे की मील चलाई जा सकती है।

एक बच्चे की शारीरिक क्रियाओ मे जितनी विद्युत् खपती है उससे रेल का इजन चलाया जा सकता है।

मनुष्य-शरीर की प्रत्येक कोशिका मे अपना स्वतत्र "पावर-हाऊस" है, जहा विद्युत्-ऊर्जा उत्पन्न होती है। उसी से पूरा शरीर-तत्र सक्रिय रहता है।

सूरज, वायु तथा अनन्त आकाश मे व्याप्त सूक्ष्म तरगो से भी निरन्तर ऊर्जा मिलती रहती है। उससे भी तैजस् शरीर पुष्ट होता रहता है।

प्राण-वायु ऑक्सीजन शरीर के भीतर जाकर कोशिकाओ को ऊर्जा प्रदान करती है। इससे तैजस शरीर भी प्रभावित होता है। प्राणमय कोष को निर्मल और पारदर्शी बनाने के लिए प्राण को साधना आवश्यक है। ऐसा योग के आचार्यों का अभिमत है।

मत्र-जप प्राणायाम और दीर्घ श्वास के अभ्यास से तैजस शरीर को प्रभावित कर उसमे छिपी अनन्त शक्ति को उजागर किया जा सकता है। विचार-तन्त्र और आभा-मण्डल को भी प्रभावित किया जा सकता है।

कार्मण शरीर

ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों के पुद्गल-समूह से निर्मित शरीर कार्मण शरीर या कर्म-शरीर है। यह पूर्ववर्ती औदारिक आदि चारो शरीरो का कारण है, इस दृष्टि से इसे "कारण शरीर" भी कहा जाता है। यह सूक्ष्मतम शरीर है। इसके बिना स्थूल शरीर का निर्माण सभव नही। कार्मण शरीर के माध्यम से ही आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर मे प्रवेश करती है या दूसरे शरीर का निर्माण करती है।

औदारिक शरीर जन्म सबधी है। वैक्रिय शरीर जन्म सबधी भी है (देवो और नारको के) और लब्धिजन्य भी। आहारक शरीर योग-शक्ति-जनित ही होता है। ये तीनो शरीर स्थूल हैं, अवयवी हैं। तैजस और कार्मण सूक्ष्म शरीर हैं। मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहते हैं।

ससारी आत्माओ के दो या तीन शरीर सदा रहते हैं। कुछ आत्माओ मे पाचो शरीरों के निर्माण की क्षमता रहती है। कम से कम दो शरीर—तैजस और कार्मण तो प्रत्येक ससारी आत्मा के साथ रहते ही हैं। इनका आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध है। इन दोनों शरीरो के छूटते

ही आत्मा मुक्त हो जाती है। फिर उसे संसार में परिभ्रमण करना नहीं पड़ता।

जैसा कि हमने जाना तैजस और कार्मण ये दो सूक्ष्म शरीर प्रत्येक संसारी प्राणी के होते हैं। पर इसके साथ भी ज्ञातव्य है कि केवल इन दो शरीरों में आत्मा अधिक समय तक नहीं रह सकती। वह केवल अन्तराल गति (एक जन्म से दूसरे जन्म-स्थान में जाने के मध्य का समय) में होते हैं। नया जन्म लेते ही उसे तीसरा शरीर धारण करना होता है।

सूक्ष्म शरीर और आधुनिक विज्ञान

इन चालीस वर्षों में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित काफी प्रयोग परीक्षण हुए हैं। उनसे सूक्ष्म शरीर के अनेक रहस्य अनावृत हुए हैं। किरलियान फोटोग्राफी आभामण्डल के फोटो लेने में सफल सिद्ध हुई है। इससे विज्ञान जगत् की धारणा भी बनी है कि इस स्थूल शरीर से परे भी बहुत कुछ है। इसके भीतर रहा हुआ सूक्ष्म जगत् है।

मरते हुए आदमी का फोटो लिया गया, तब ऐसा लगा कि इस शरीर जैसी आकृति शरीर से बाहर आ रही है। प्रारम्भिक प्रयोगों ने हो सकता है इसे आत्मा माना हो, पर वास्तव में यह सूक्ष्म शरीर ही है। आत्मा अमूर्त है, वह दृश्य नहीं बन सकती। जैन-दर्शन के अनुसार सूक्ष्मतम शरीर अत्यन्त सूक्ष्म चतुःस्पर्शी परमाणु स्कंधों से निर्मित है।

परमाणु स्कंध दो प्रकार के होते हैं—चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी। अष्टस्पर्शी परमाणु स्कंधों में भार होता है। विद्युत-आवेश होता है। प्रस्फुटन होता है और स्थूल अवगाहन होता है उनमें ठोस अवरोध के बाहर जाने की क्षमता नहीं होती। चतुःस्पर्शी पुद्गल स्कंधों में भार नहीं होता। वे न हल्के होते हैं, न भारी। इनमें विद्युत् आवेश नहीं होता। उनकी गति अप्रतिहत होती है। अस्खलित होती है। वे दीवार के पार जा सकते हैं। सूक्ष्मतम शरीर इन्हीं परमाणुओं से बना हुआ होता है।

परामनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि सूक्ष्म शरीर "न्यूट्रिनोन" कणों से निर्मित है। चतुःस्पर्शी पुद्गलों की भांति "न्यूट्रिनोन" कणों में भी भार, विद्युत-आवेश और प्रस्फुटन नहीं होता। विज्ञान इन कणों को अभौतिक मानता है। पर जैन-दर्शन-सम्मत सूक्ष्म शरीर भौतिक है, पौद्गलिक है। हो सकता है विज्ञान के पास इसकी स्पष्ट भाषा नहीं, इसलिए उसे अभौतिक कह देता है। जैन आगमों के आधार पर सूक्ष्म शरीर अभौतिक नहीं है। वह भौतिक है। पौद्गलिक है। चतुःस्पर्शी पुद्गलों से निर्मित है।

"न्यूट्रिनोन" के कण भी कोरे चक्षु के स्तर से नहीं देखे जा सकते हैं। जब दूसरे कणों के साथ संघर्ष होता है तब वे पकड़ में आते हैं। वे

ही सूक्ष्म परमाणु हमारे सूक्ष्म शरीर का निर्माण करते हैं।

आध्यात्मिक मूल्य

कर्म शरीर सस्कारों का वाहक है। जन्म-जन्मान्तरो की सस्कार-परम्परा इसके साथ जुडी हुई होती है। व्यक्ति का चरित्र, ज्ञान, व्यवहार, व्यक्तित्व, कर्तृत्व—इन सबके बीज कर्म शरीर मे ही सन्निहित हैं। जीनेटिक साइस के अनुसार व्यक्ति के आकार, प्रकार, सस्कार का मूल आधार "जीन" है। मानव-शरीर मे लगभग एक लाख तीस हजार किस्म के "जीन्स" हैं। प्रत्येक जीन-शृखला मे ढाई अरब "बेस" अथवा आधार-कण के जोडे होते हैं। इन्ही के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व बनता है। कर्म शास्त्रीय दृष्टि से व्यक्तित्व की विचित्रता का मूल कर्म शरीर है।

कर्म शरीर चेतना के सर्वाधिक निकट है। चैतन्य की रश्मियो को रोकने वाली सुदृढ दीवार है। चैतन्य को प्रकट करने के लिए उसका हटना आवश्यक है। भगवान महावीर ने कहा—"धुणेहि कम्म सरीरग" -कर्म शरीर को प्रकम्पित करो। दुर्बल करो। इसके समाप्त होते ही जन्म-परम्परा समाप्त हो जाएगी। इसका प्रारम्भ औदारिक शरीर की सिद्धि और शुद्धि से होता है। इसके लिए शरीर के क्रिया-तत्र, विचार-तत्र और नाडी तत्र का शोधन और सयम कर ग्रन्थि तन्त्र के स्रावो को बदला जा सकता है। उसका फलित है भाव-शुद्धि। भाव-शुद्धि से लेश्या पवित्र होती है। पवित्र लेश्या अध्यवसाय को प्रभावित करती है। पवित्र अध्यवसाय से कार्मण-शरीर प्रकम्पित होता है। जन्म-जन्मान्तरो के सस्कार क्षीण होते हैं। मूर्च्छा टूटती है और चेतना का सूर्य समग्रता से प्रकाशित हो उठता है।

आज अपेक्षा है, शरीर का सैद्धातिक और शरीर-शास्त्रीय अध्ययन भी अध्यात्म के सदर्भ मे करें और चेतना के केन्द्र तक पहुचने का पथ प्रशस्त करें।

सदर्भ.—१ घट-घट दीप जले, पृष्ठ ५९; ६० आचार्यश्री महाप्रज्ञ।
१ जैन-सिद्धात दीपिका ७/२४-२८।
२. जैन तत्त्व-विद्या पृ० २१,२२।
३ प्रेक्षाध्यान, शरीर विज्ञान।
४ सबोधि—१३/पृष्ठ २८७-२८८।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

जन्म और मृत्यु सार्वभौम नियम है। संसार का कोई भी प्राणी इसका अपवाद नहीं है। जो जन्मता है वह निश्चित मरता है। हमारे जीवन के दो छोर हैं एक जन्म, दूसरा मृत्यु। इन दोनों के बीच जीवन की धारा अजस्र प्रवाहित है। जीवन, जन्म और मृत्यु ये तीनों हमारे प्रत्यक्ष हैं। प्रश्न होता है—इन तीनों से परे भी कुछ है क्या? जन्म से पहले क्या था? मृत्यु के पश्चात् क्या होगा? ये प्रश्न आदि युग से लेकर आज तक रहस्यमय बने हुए हैं?

भगवान महावीर ने कहा—'अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते—मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा? वैज्ञानिक शोध और प्रयोगों की पराकाष्ठा के इस युग में भी यह प्रश्न उतनी ही तीव्रता से पूछा जा रहा है।

भगवान महावीर ने कहा—"इन प्रश्नों को उत्तरित करने के तीन माध्यम हैं—स्वयं का प्रत्यक्ष अनुभव, ज्ञानियों का अनुभव तथा दूसरों के कथन-श्रवण।"

यद्यपि सभी पूर्वीय और पश्चिमी अस्तित्ववादी दर्शनों ने पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों को स्वीकार किया है। फिर भी भारतीय दर्शनों का मूल आधार प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञानियों का अनुभव रहा है तथा पश्चिमी दार्शनिकों का मूल आधार तर्क रहा है।

जैन-दर्शन और जन्मान्तर का सिद्धान्त

भगवान् महावीर ने कहा —

"जावंतऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्ख सभवा ।

लुप्पंति बहुसो मूढा, ससारंमि अणतए ।" (उत्तरज्झयणाणि ६।१)

जितने भी अविद्यावान अज्ञानी प्राणी हैं, वे सब दु खो को उत्पन्न करने वाले हैं। वे अनन्त ससार मे बार-बार नष्ट-विनष्ट होते रहते हैं। मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं। आत्मा की त्रैकालिकता के बिना अनन्त बार मृत्यु सभव नही।

"न तस्स दुक्ख विभयंति नाइओ,

न मित्तवग्गा न सुया न बधवा ।

एक्को सय पच्चणुहोई दुक्ख,

कत्तारमेव अणुजाई कम्म ॥ उत्तरज्झयणाणि १३/२३

सुख-दु ख सबके अपने अपने होते हैं। इसीलिए उस अविद्या-जनित दु ख को न ज्ञातिजन बाट सकते हैं, न मित्र बाट सकते हैं, न बन्धु-बाधव। अपने कृत कर्म स्वय को ही भोगने पडते है। क्योकि कर्म सदा कर्त्ता का अनुगमन करता है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि निरन्तर क्रियाशील जीवात्मा अपनी सत-असत् प्रवृत्ति से कर्म-मलो का सचय करती रहती है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगना तथा नए सस्कारो को सचय करना उसका स्वभाव है। उन्ही सचित सस्कारो की प्रेरणा से वह बार-बार जन्म और मृत्यु की अतहीन परम्परा मे परावर्तन करता रहता है। चार गतियो और चौरासी लाख जीव-योनियो मे सुख-दु ख का सवेदन करता रहता है। यही है पुनर्जन्मवाद।

पुनर्जन्म की प्रतीति करने वाले या उसे प्रतिष्ठित करने वाले मुख्यत तीन स्रोत हैं—

१ प्रत्यक्ष-ज्ञानी और दार्शनिक।

२ तार्किक।

३ वैज्ञानिक।

प्रत्यक्ष ज्ञानियो ने अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किया— जन्म के पहले भी जीवन होता है और मृत्यु के बाद भी जीवन की धारा पुन चालू हो जाती है। वर्तमान तो मध्यवर्ती विराम है जिसका पूर्व और पश्चात नही होता उसका मध्य भी नही होता। जिसका मध्य है उसका पूर्वापर भाव भी निश्चित होता है। वर्तमान जीवन जन्म-परम्परा की मध्यवर्ती कडी है। वह पूर्व कडी और अपर कडी से जुडी है। वे कडिया ही पूर्वजन्म एव पुनर्जन्म हैं।

पुनर्जन्म के साधक हेतु

आस्तिकवादी दार्शनिकों ने भी नाना हेतुओं से जन्मान्तरवाद को सिद्ध किया। उनमें से कतिपय हेतु ये हैं —

१ नवजात शिशु में भी हर्ष, शोक, भय आदि की वृत्तियां होती हैं।

२ शिशु जन्मते ही मां का स्तनपान करने लगता है।

३ उसमें हंसने-रोने आदि की प्रवृत्तियां होती हैं।

४ उसे सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है।

५ उसे जीवन का मोह और मृत्यु का भय होता है।

यह सब पूर्व संस्कारों का ही परिणाम है। उसकी उक्त वृत्तियां और प्रवृत्तियां पूर्वाभ्यास की परिचायक हैं। पूर्वाभ्यास पुनर्जन्म के बिना संभव नहीं। यदि पूर्व जीवन में ये वृत्तियां परिचित नहीं होतीं तो नवोत्पन्न शिशु में ये कैसे मिलतीं? (श्री भिक्षु न्यायकर्णिका ७/९-१०)। बच्चे की कुछ प्रवृत्तियों से ऐसा लगता है कि उसे पूर्वजन्म का ज्ञान है, स्मृति है। शारीरिक विकास की अपूर्णता के कारण वह उसे व्यक्त नहीं कर सकता। इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि जैसे यौवन शैशव की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही शैशव भी पूर्वजन्म की उत्तरावस्था है।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाला सशक्त प्रमाण है— जाति-स्मृति, पूर्वजन्म का स्मरण।

पनपी और फली-फूली है, वैसे इसकी समरेखा मे एक ऐसी धारा भी सदा बहती रहती है जो पुनर्जन्म को स्वीकार नही करती तथा पूर्वपक्ष का भरपूर विरोध भी करती है। उसके अनुसार न पूर्व जन्म होता है और न पुनर्जन्म। वर्तमान जीवन ही सत्य है यथार्थ है।

ये दो धाराए दार्शनिक क्षेत्र मे बराबर चलती रही हैं। एक को आस्तिक कहा जाता है और दूसरे को नास्तिक। एक है आत्मा को मानने वाली धारा और दूसरी है आत्मा को न मानने वाली धारा। यद्यपि नास्तिक भी आत्मा को—चेतना को सर्वथा अस्वीकार नही करते। फिर भी वे उसको मात्र वार्तमानिक मानते हैं, त्रैकालिक नही। उनके अभिमत से चेतना स्वतत्र द्रव्य नही है। कुछ ऐसे तत्त्वो या परमाणुओ का सयोग होता है, जिससे एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। वही चेतना है, जो शरीर के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के विनाश के साथ विनष्ट हो जाती है। मृत्यु के समय वे विशेष प्रकार के परमाणु बिखर जाते हैं, उनके साथ चेतना भी बिखर जाती है। जब तक जीवन, तब तक चेतना। जीवन समाप्त, तो चेतना भी समाप्त। उसके बाद कुछ नही बचता। न पहले चेतना, न बाद मे चेतना। न पहले जीवन, न बाद मे जीवन। न पूर्वजन्म, न पुनर्जन्म। जो कुछ है, वह वर्तमान ही है। न अतीत, न भविष्य। इस प्रकार तार्किको ने पुनर्जन्म के सिद्धात को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार अस्वीकृति के पीछे उनका ठोस तर्क यह है कि शरीर हमारे प्रत्यक्ष है, पर चेतना प्रत्यक्ष नही। यदि चेतना जैसी कोई त्रैकालिक सत्ता होती तो जरूर दृष्टि का विषय बनती। शरीर मे प्रवेश करते और निकलते समय वह अवश्य दिखाई देती। दूसरा तर्क उनका यह है कि यदि पूर्वजन्म का अस्तित्व है तो उसकी स्मृति सबको होनी चाहिए। मृतात्माओ से सपर्क बना रहना चाहिए। किंतु ऐसा होता नही है। यदि कही कुछ घटित होता भी है तो विरल। घटित घटनाओ की प्रामाणिकता असदिग्ध नही, इसलिए जीवन का अतीत और भविष्य तर्क से सिद्ध नही होता।

तार्किको की भाति वैज्ञानिको ने भी लम्बे समय तक जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया था। इसका कारण यही है कि विज्ञान की पहुच भी भौतिक जगत् तक ही थी। उसके प्रयोग और परीक्षण का केन्द्र-बिंदु पदार्थ या पुद्गल ही रहा। जब से विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् के रहस्यो को पकडना प्रारम्भ किया, एक नई क्राति घटित हुई। आत्मा को उसने स्वीकार किया या नही, पर भौतिक जगत् मे कुछ अभौतिक तत्त्व भी हैं—यह विश्वास निश्चित वैज्ञानिक क्षेत्र मे पनपा है।

पुनर्जन्म को स्वीकारने या न स्वीकारने के पीछे मुख्यत दो अवधारणाए काम कर रही हैं—आत्मवादी धारणा और अनात्मवादी अथवा भौतिक-

वाली धारणा ।

अनात्मवादी दार्शनिकों ने तथा विज्ञान ने यही माना कि यह जगत् मात्र भौतिक है । पौद्गलिक है । उनकी यह मान्यता अकारण भी नहीं थी । क्योंकि पुद्गल की सीमा से परे जो कुछ है, वह जानने का साधन भी उन्हें उपलब्ध नहीं था । पुद्गल की सीमा में रहने वाला व्यक्ति आत्मा तक कैसे पहुंच सकता है ? आत्मा तक पहुंचे बिना जीवन की लम्बी-परम्परा ज्ञान की सीमा में नहीं आ सकती । प्रश्न है आत्मा का, अभौतिक तत्त्व का ।

आत्मा सूक्ष्म है, अभौतिक है, अदृश्य है । हमारे ज्ञान के साधन स्थूल हैं । उनकी शक्ति सीमित है । हमारे ज्ञान के माध्यम हैं - इन्द्रियां मन और बुद्धि । आत्मा इन तीनों से परे है । इनके द्वारा आत्मा का ज्ञान और अनुभूति नहीं हो सकती । ये मूर्त हैं । आत्मा अमूर्त है । मूर्त से अमूर्त को नहीं जाना जा सकता । अतीन्द्रिय चेतना के जागरण से ही आत्मा का अनुभव होता है । आत्मा शाश्वत सत्ता है ।

इसलिए यह जन्म-जन्मान्तरों की यात्रा करती हुई, अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण करती है । शरीर सुख दुःख और संवेदनों का माध्यम बनता है । उसके विकास और ह्रास से यह प्रभावित भी होता है ।

जैसे व्यक्ति एक जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा मृत्यु के बाद एक शरीर को छोड़ दूसरे शरीर का निर्माण करता है । यह क्रम तब तक चलता रहता है, जब तक आत्मा कर्म-मुक्त न हो जाए ।

पनपी और फली-फूली है, वैसे इसकी समरेखा मे एक ऐसी धारा भी सदा बहती रहती है जो पुनर्जन्म को स्वीकार नही करती तथा पूर्वपक्ष का भरपूर विरोध भी करती है। उसके अनुसार न पूर्व जन्म होता है और न पुनर्जन्म। वर्तमान जीवन ही सत्य है यथार्थ है।

ये दो धाराए दार्शनिक क्षेत्र मे बराबर चलती रही हैं। एक को आस्तिक कहा जाता है और दूसरे को नास्तिक। एक है आत्मा को मानने वाली धारा और दूसरी है आत्मा को न मानने वाली धारा। यद्यपि नास्तिक भी आत्मा को—चेतना को सर्वथा अस्वीकार नही करते। फिर भी वे उसको मात्र वार्तमानिक मानते हैं, त्रैकालिक नही। उनके अभिमत से चेतना स्वतन्त्र द्रव्य नही है। कुछ ऐसे तत्त्वो या परमाणुओ का सयोग होता है, जिससे एक विशेष प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है। वही चेतना है, जो शरीर के साथ उत्पन्न होती है और शरीर के विनाश के साथ विनष्ट हो जाती है। मृत्यु के समय वे विशेष प्रकार के परमाणु बिखर जाते हैं, उनके साथ चेतना भी बिखर जाती है। जब तक जीवन, तब तक चेतना। जीवन समाप्त, तो चेतना भी समाप्त। उसके बाद कुछ नही बचता। न पहले चेतना, न बाद मे चेतना। न पहले जीवन, न बाद मे जीवन। न पूर्वजन्म, न पुनर्जन्म। जो कुछ है, वह वर्तमान ही है। न अतीत, न भविष्य। इस प्रकार तार्किको ने पुनर्जन्म के सिद्धात को अस्वीकृत कर दिया। इस प्रकार अस्वीकृति के पीछे उनका ठोस तर्क यह है कि शरीर हमारे प्रत्यक्ष है, पर चेतना प्रत्यक्ष नही। यदि चेतना जैसी कोई त्रैकालिक सत्ता होती तो जरूर दृष्टि का विषय बनती। शरीर मे प्रवेश करते और निकलते समय वह अवश्य दिखाई देती। दूसरा तर्क उनका यह है कि यदि पूर्वजन्म का अस्तित्व है तो उसकी स्मृति सबको होनी चाहिए। मृतात्माओ से सपर्क बना रहना चाहिए। किंतु ऐसा होता नही है। यदि कही कुछ घटित होता भी है तो विरल। घटित घटनाओ की प्रामाणिकता असदिग्ध नही, इसलिए जीवन का अतीत और भविष्य तर्क से सिद्ध नही होता।

तार्किको की भाति वैज्ञानिको ने भी लम्बे समय तक जन्मान्तर के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया था। इसका कारण यही है कि विज्ञान की पहुच भी भौतिक जगत् तक ही थी। उसके प्रयोग और परीक्षण का केन्द्र-बिंदु पदार्थ या पुद्गल ही रहा। जब से विज्ञान ने सूक्ष्म जगत् के रहस्यो को पकडना प्रारम्भ किया, एक नई क्राति घटित हुई। आत्मा को उसने स्वीकार किया या नही, पर भौतिक जगत् मे कुछ अभौतिक तत्त्व भी हैं—यह विश्वास निश्चित वैज्ञानिक क्षेत्र मे पनपा है।

पुनर्जन्म को स्वीकारने या न स्वीकारने के पीछे मुख्यत दो अवधारणाए काम कर रही हैं—आत्मवादी धारणा और अनात्मवादी अथवा भौतिक-

वादी धारणा।

अनात्मवादी दार्शनिको ने तथा विज्ञान ने यही माना कि यह जगत् मात्र भौतिक है। पौद्गलिक है। उनकी यह मान्यता अकारण भी नही थी। क्योकि पुद्गल की सीमा से परे भी कुछ है, यह जानने का साधन भी उन्हे उपलब्ध नही था। पुद्गल की सीमा मे रहने वाला व्यक्ति आत्मा तक कैसे पहुच सकता है? आत्मा तक पहुचे विना जीवन की लम्बी-परम्परा ज्ञान की सीमा मे नही आ सकती। प्रश्न है आत्मा का, अभौतिक तत्त्व का।

आत्मा सूक्ष्म है, अभौतिक है, अदृश्य है। हमारे ज्ञान के साधन स्थूल हैं। उनकी शक्ति सीमित है। हमारे ज्ञान के माध्यम हैं—इन्द्रिया मन और वुद्धि। आत्मा इन तीनो से परे है। इनके द्वारा आत्मा का ज्ञान—आत्मानुभूति नही हो सकती। ये मूर्त्त हैं। आत्मा अमूर्त्त है। मूर्त्त से अमूर्त्त को नही जाना जा सकता। अतीन्द्रिय चेतना के जागरण से ही आत्मा का अनुभव होता है। आत्मा त्रैकालिक सत्ता है।

इसीलिए वह जन्म-जन्मान्तरो की यात्रा करती हुई, अनेक प्रकार के शरीरो का निर्माण करती है। शरीर सुख-दु ख के सवेदनो का माध्यम वनता है। चेतना के विकास और ह्रास से वह प्रभावित भी होता है।

जैसे व्यक्ति एक जीर्ण वस्त्र को त्याग कर नया वस्त्र धारण करता है वैसे ही आत्मा मृत्यु के वहाने एक शरीर को छोड दूसरे शरीर का निर्माण करती है। यह क्रम तव तक चलता रहता है, जव तक आत्मा कर्म-मुक्त न हो जाए।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को तार्किक आधार पर सिद्ध और असिद्ध करने के प्रयत्न हुए, पर तर्क कभी सतोपप्रद समाधान नही दे सकता। तर्क से कभी अन्तिम प्रमाण सिद्ध नही होता। प्रमाण होता है, अतीन्द्रियज्ञान या प्रयोग-परीक्षण। वर्तमान मे अतीन्द्रिय ज्ञानी या प्रत्यक्ष ज्ञानी हमे उपलव्ध नही हैं, फिर भी वैज्ञानिक खोजो ने इस दिशा मे नए आयाम खोले हैं।

अव यह विषय सदिग्ध नही रहा है कि पूर्वजन्म होता है या नहीं परामनोवैज्ञानिको ने इस दिशा मे जो प्रयत्न किया है उससे धर्म का क्षेत्र भी उपकृत हुआ है। उन्होने पुनर्जन्म सम्वन्धी घटनाओ का सकलन कर उन पर जो वैज्ञानिक अध्ययन-विश्लेषण किया है, उससे पुनर्जन्मवाद सिद्ध होता है।

उन्होने ऐसी घटनाओ का उल्लेख किया है, जिनको पढकर आश्चर्य होता है। अनेक वच्चो ने अपने पूर्वजन्म का वर्णन कर सवको चौका दिया। परीक्षा की कसौटी पर वे घटनाए प्राय सत्य सावित हुई। उन्हें देख-सुनकर वे लोग भी विस्मित हो रहे हैं, जिनका विश्वास आत्मा और पुनर्जन्म मे

नही था। अपेक्षा है विज्ञान और परामनोविज्ञान के साथ भारतीय अध्यात्म-विज्ञान वह प्रक्रिया प्रस्तुत करे, जिससे विकसित चेतना का स्वामी मनुष्य स्वय अपने अतीत और अनागत की अवस्थाओ या जन्मो का अनुभव कर चेतना को अध्यात्म के नए आयाम मे प्रविष्ट दे सके।

प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक ससार के अनेक देशो की विभिन्न जातियो मे पुनर्जन्म का व्यापक विश्वास जमा हुआ है। बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, पूर्वी द्वीप समूह, लका, भारत आदि देशो मे तो पुनर्जन्म की मान्यता के विना धर्म की भी सिद्धि नही होती। हिन्दू, जैन और बौद्ध जगत् का प्राय शत-प्रतिशत और ईसाई जगत् का बहुमत इस सिद्धात का अनुगामी है। वास्तव मे विश्व की एक तिहाई से अधिक जनसख्या पुनर्जन्मवाद को स्वीकार करती है।

उन-उन देशो के तत्त्व-चितको और धर्माचार्यों ने अनेक युक्तियो से, तर्कों से तथा अपने निजी अनुभवो से पुनर्जन्म को सिद्ध किया है। अपने विश्वास को पुष्ट किया है।

भारतीय परम्पराएं

जैन-दर्शन के अनुसार प्राणी यदि सत्कर्म करता है तो उसका अच्छा फल भोगता है। यदि वह असत्कर्म करता है तो उसका बुरा फल भोगता है।

कुछ कर्मों का फल उसी जीवन मे भोग लिया जाता है और कुछ कर्मों का फल वह अगले जन्म मे भोगता है। कुछ ऐसे भी निविड कर्म होते हैं जो प्राणी को जन्म-जन्मान्तरो तक प्रभावित करते रहते है। उन्हे भोगने के लिए वह अनेक बार सद्‌गति और दुर्गति को प्राप्त करता है। सत्कर्मों के फल-भोग के उपयुक्त स्थान और वातावरण का मिलना सद्‌गति है और असत्कर्मों के फल-भोग के उपयुक्त स्थान, वातावरण आदि का मिलना ही दुर्गति है।

भगवान् महावीर आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म और पूर्वजन्म के प्रबल समर्थक थे। उन्होने कहा—"परलोक नही है"—ऐसा मानना और चिंतन करना मूढता है।

भगवान ने कहा—"ससारी प्राणी अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—इस चतुर्गतिमय ससार मे परिभ्रमण करता रहता है। उन्होने यह भी बताया कि प्राणी की कौन-सी वृत्ति और प्रवृत्ति कौन-सी गति का निमित्त बनती है। महाहिंसा, महापरिग्रह, पचेन्द्रियवध और मासाहार ये दुर्गति नरक गति के हेतु है।

विविध प्रकार के शील-सदाचार का पालन करने वाले व्यक्ति देव-कल्पो व उसके ऊपर के देवलोको की आयु का भोग करते हैं।

(उत्तराध्ययन ३/१३-१५)

देवताओ के आवास उत्तरोत्तर उत्तम, मोह-रहित और द्युतिमान होते हैं। वे देवो से आकीर्ण होते हैं। वहा रहने वाले देव यशस्वी, दीर्घायु, ऋद्धिमान, दीप्तिमान, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हो—एसी काति वाले और सूर्य के समान महातेजस्वी होते हैं।

(उत्तराध्ययन ५/२६-२७)

इसी प्रकार जैन-आगमो मे सभी प्रकार की जीव-जातियो का विस्तृत विवेचन मिलता है। उसके आधार पर पुनर्जन्म का सिद्धात सुस्पष्ट हो जाता है।

हिन्दु-धर्म मे सर्वप्रथम ऋग्वेद मे परलोक सबधी मान्यता की सूचना मिलती है। इसके बाद उत्तरवर्त्ती साहित्य मे प्रचुर सामग्री मिलती है। ऋग्वेद के अनुसार पुण्यात्मा परलोक मे अपना पुरस्कार प्राप्त करते हैं और हत्यारे अधागृह (पाताललोक) मे भेजे जाते हैं।

उपनिषद्, ब्राह्मण साहित्य तथा सहिता-साहित्य के अध्ययन से सिद्ध होता है कि हिन्दू-परम्परा मे भी पुनर्जन्म, पूर्वजन्म आदि की स्पष्ट अवधारणा है। जैनो की तरह वैदिक धर्म मे भी आत्मा को अनश्वर माना गया है।

बौद्ध धर्म यद्यपि अनात्मवादी है, क्षणिकवादी है फिर भी पुनर्जन्म की मान्यता उसमे भी रही है। तथागत बुद्ध के पैर मे काटा लग गया। इसका रहस्य उद्घाटित करते हुए उन्होने कहा—"भिक्षुओ! इस जन्म से इकाणवे कल्प पूर्व मैंने किसी शस्त्र द्वारा एक पुरुष की हत्या कर दी थी। उसी कर्म के विपाक स्वरूप मेरा पाव काटे से बिंध गया है।" जातक कथाओ मे भी बुद्ध के पूर्वजन्मो की कथाए सकलित हैं। सयुक्त निकाय मे बुद्ध कहते हैं—"सभी जीव मरेंगे। मृत्यु मे ही जीवन का अन्त होता है। उनकी गति अपने कर्मानुसार होगी, पाप करने से नरक और पुण्य करने से स्वर्ग प्राप्त होता है, इसलिए सदा पुण्य कर्म करें, जिससे परलोक बनता है। अपना कमाया पुण्य ही परलोक मे काम आता है।"

बौद्ध-दर्शन की यह निश्चित मान्यता है कि सत्व (प्राणी) अनेक जन्मो मे ससरण कर अपने कर्मो का भोग करता है। उसमे भी वर्तमान जीवन के कर्मफल का सबध भावी जन्मो से माना गया है।

जैन-दर्शन की भाति बौद्ध-दर्शन मे भी योनिया मानी गई हैं, जिन्हे बुद्ध प्रवचन मे भूमिया कहा गया है। वे भूमिया चार हैं—(१) अपाय भूमि (दुर्गतिया - नरक, तिर्यंच, प्रेत और असुर) (२) कामसुगत भूमि (सुगतिया—मनुष्य और कुछ देव जातिया), (३) रूपावचर भूमि (विशिष्ट देव जातिया) और (४) अरूपावचर भूमि। इससे यह भी ज्ञात होता है कि बौद्ध दर्शन मे जैन-दर्शन की भाति चार गतियो का सिद्धात भी मान्य है।

मिश्र और यूनानी परंपराएं

भारत की तरह मिश्र और यूनान की प्राचीन परम्पराओ मे भी आत्मा के आवागमन का सिद्धात मान्य रहा है। विश्व मे इतिहास जनक माने जाने वाले यूनानी इतिहासवेत्ता हेरोडोट्स का मत है कि आत्मा के आवागमन के सिद्धात का प्रस्तोता होने के कारण पुनर्जन्मवाद की मान्यता का चाहे वह अविकसित रूप मे ही क्यो न हो मिश्र ही आदि स्रोत रहा है। मिश्र के विचारको ने ही सर्वप्रथम जीवात्मा की अविनश्वरता की कल्पना की है।

यहा तक कि यूनान के दार्शनिको ने आत्मा के आवागमन के सिद्धात को मिश्र से ही सीखा और कालातर मे आत्मसात् कर लिया।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो की भाषा इस तथ्य को प्रतिध्वनित कर रही है। उन्होने कहा—"आत्मा सदा नये-नये वस्त्र बुनती है। तथा उसमे एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति है जो ध्रुव रहती है और अनेक बार जन्म लेती है।"

यह दूसरी बात है कि मिश्र वाले आत्मा को शरीर की छाया मात्र मानते थे। उसका स्वतत्र अस्तित्व नही मानते थे। इसलिए आत्मा के अमरत्व को स्थायी रखने के लिए ही मिश्र मे शव-परिरक्षण की प्रथा रही है। उनका विश्वास है कि मृत्यु के पश्चात् आत्मा अबाध रूप से कही भी आ जा सकती है, लेकिन उसे वही लौट आना पडता है, जहा उसका शव रखा हुआ होता है।

ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व बेवीलोन के दक्षिण हिस्से पर शासन करने वाली चाल्डर्स जाति के लोगों का भी यही विश्वास था। उनकी मान्यता थी कि मृत शरीर के नष्ट कर दिए जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाती है। आदमी के मर जाने पर भी यदि शरीर सुरक्षित है तो आत्मा भी सुरक्षित रहती है। इसलिए उनमे भी शव-परिरक्षण की प्रथा थी। वे मृत शरीर के पुनरुत्थान और उनमे नव-जीवन के सचार मे विश्वास रखते थे।

मुर्दे को फूलो से ढक कर गाडने की प्रथा के पीछे परलोक का विश्वास काम करता था। मरणोपरात जीवन के अस्तित्व की मान्यता ही इसका कारण हो सकती है।

ईसाई और इस्लाम परम्पराएं

ईसाई-धर्म पुनर्जन्म को नही मानता। किन्तु अनेक अग्रेज विद्वानो एव वैज्ञानिको ने सैद्धातिक रूप से पुनर्जन्म को स्वीकार किया है। सुप्रसिद्ध अग्रेज कवि वर्डसवर्थ ने अपनी कविता "अमरत्व की कृति" मे लिखा है—"जो आत्मा जीवन-नक्षत्र की भाति हमारे साथ उत्पन्न होती है, उसका कही अन्यत्र भी उद्‌भव है।" ईसाई मत मे पुनर्जन्म की मान्यता है ही नही ऐसा

तो नही कहा जा सकता, फिर भी पुनर्जन्म की मान्यता वहा सर्व-सम्मत भी नही है।

ईसा के जन्म से दो सौ वर्ष पुराने और उस समय के शक्तिशाली धम-सम्प्रदाय—"एमेनेसेस" धर्मावलवियो मे जीव के शुभ-अशुभ कृत्यो के फल भोगने की मान्यता रही है। ईसाई मत पर इस मान्यता का प्रभाव भी पडा है।

एक जन्माध व्यक्ति को ईसा के सामने प्रस्तुत किया गया। ईसा ने इसे पूर्वजन्म के अपराधो का फल वताया।

पुनर्जन्म को न मानने वाले इस्लाम आदि धर्मानुयायी देशो की ऐसी अनेक घटनाए सामने आई हैं जो आधुनिक अन्वेपका को पुनर्जन्म के सवध मे पुर्नचितन करने के लिए पेरित करती हैं। उन देशो मे ऐसे अनेक व्यक्ति पाए गए ह जो अपने पूवजन्म की घटनाओ का सही-सही वर्णन करते हैं। डॉ स्टीवन्सन ने पूर्वजन्म से सवधित जिन सात सौ घटनाओ का आकलन और वैज्ञानिक अध्ययन किया है उनमे अनेक ईसाई और इस्लाम धर्मानुयायी भी है।

दूसरी वात यह है कि ईसाई और इस्लाम आचार-दर्शन यह तो मानता ही है कि व्यक्ति अपने नैतिक शुभाशुभ कृत्यो का फल अनिवार्यतया प्राप्त करता है। यदि वह इस जीवन मे पूरा फल न भोग सके तो वह मरण के वाद भोगता है। इस प्रकार के सिद्धातो के आधार पर चाहे अनचाहे वे मरणोत्तर जीवन को स्वीकार कर ही लेते है।

पाश्चात्य दार्शनिक और वैज्ञानिक

नवीन पाश्चात्य दार्शनिक शापनहावर की दृष्टि मे पुनर्जन्म नि सदिग्ध तत्त्व है। उन्होने इतनी सहजता से स्वीकार किया है कि मेरा अनुभव ऐसा है कि पुनर्जन्म के वारे मे जो भी पहले-पहल सुनता है उसे भी उसका अस्तित्व स्पष्ट हो जाता है।

आधुनिक युग के अनेक परामनोवैज्ञानिको तथा भूतविद्या के शीर्षस्थ जानकारो ने ऐसे प्रमाण एकत्रित किये हैं जो मृत्यु के वाद भी जीवन के अस्तित्व को वास्तविक वताते हैं।

थामस हक्सले, रावर्ट मायस और डॉ० जे० वी० राइन जैसे विख्यात पश्चिमी चितको ने आत्मा के अनश्वर रूप और मरणोपरात जीवन की स्थिति मे अपना विश्वास प्रकट किया है।

वतमान युग केवल मान्यता या या दार्शनिक स्थापनाओ का युग नही है। यह वैज्ञानिक युग है। प्रयोग और परीक्षण का युग है। उसी सिद्धात को युग की स्वीकृति प्राप्त होती है जो प्रायोगिक हो। हजारो शताब्दियो

तक पुनर्जन्म और पूर्वजन्म का जो सिद्धात मात्र मान्यता या दार्शनिक चर्चा का विषय रहा था, बीसवी सदी के उत्तरार्ध से वह भी प्रयोग और परीक्षण की अणु-भट्टी मे तपाया जा रहा है। आधुनिक विज्ञान की एक शाखा है—परामनोविज्ञान। इस पर रिसर्च करने वाले इस तथ्य तक पहुचे हैं कि जीवन की एक लम्बी परम्परा है। उसका अतीत भी है और भविष्य भी है। उसके कुछ बुनियादी हेतु हैं, जैसे—

शिशुकालीन अवस्था मे विलक्षण प्रतिभा का होना।

शिशु-अवस्था से ही विभिन्न रुचियो अथवा भय आदि के भावो का होना।

देह-मुक्त आत्माओ से सम्पर्क स्थापित करना और उसके सदेशो को प्राप्त करना।

माध्यमो अथवा सिद्ध पुरुषो द्वारा व्यक्ति विशेष को देखकर उसके पूर्वजन्मो का कथन करना।

इस क्षेत्र मे भारत तथा विदेशो मे बहुत बडा काम हो रहा है। इस विषय का साहित्य प्रचुर मात्रा मे प्रकाशित हुआ है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि सभी दर्शनो की धार्मिक परपराए जो आत्मा के आवागमन को स्वीकार करती हैं, वे सब मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान की ऋणी हैं, जिसके अनुसधानात्मक आलोक मे प्राचीन धार्मिक मान्यताए सही सिद्ध हो रही हैं।

पुनर्जन्मवाद की स्वीकृति मे ही आत्मवाद, कर्मवाद और निर्वाणवाद की सार्थकता है। यही आचार-शास्त्र का आधार है। पवित्र जीवन की प्रेरणा है। पवित्र आचार-व्यवहार जहा व्यक्तिगत सुख-शाति का हेतु है। वहा वह सामाजिक और राष्ट्रीय चरित्र को प्रभावित कर उसे स्वस्थता प्रदान करता है।

संदर्भ १ जैन-दर्शन मनन और मीमासा, पृष्ठ २९५

२. श्री भिक्षु न्यायकर्णिका ७/९-१०

३ घट-घट दीप जले, पृष्ठ ५३-६१

४ श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खड ४, पृष्ठ ३७८

पुण्य और पाप

शुभ कर्म पुण्यम् ।
अशुभ कर्म पापम् ।।
—(जैन सिद्धात दीपिका, ४/१२,१४)

सामान्य भाषा मे सत्कर्म को पुण्य और असत्कर्म को पाप कहते हैं, किन्तु जैन तत्त्व-दर्शन की भाषा मे शुभ कर्मों की उदयावस्था को पुण्य और अशुभ कर्मो की उदयावस्था को पाप कहा जाता है। सत्कर्म और असत्कर्म क्रमश पुण्य और पाप-बधन के निमित्त हैं। कारण मे कार्य का उपचार होने से लोक-व्यवहार मे पुण्य और पाप शब्द सत्क्रिया तथा असत्क्रिया के अर्थ मे प्रयुक्त हो जाते हैं।

आत्म-प्रदेशो के साथ बधे हुए कर्म-पुद्गल जब तक उदय मे नही आते, तब तक जीव को सुख-दु ख आदि की अनुभूति नही होती। जब बद्ध कर्म उदय मे आते हैं और सुखद-दु खद सवेदन के निमित्त बनते हैं, तब वे पुण्य-पाप कहलाते हैं।

सात वेदनीय, शुभनाम, उच्चगोत्र और शुभ आयुष्य कर्म पुण्य है। अथवा इसे यो भी कह सकते हैं कि शुभ-कर्मों के उदय से जीव को सुख सवेदन, शुभ नाम, उच्च-गोत्र और शुभ आयुष्य की स्थिति प्राप्त होती है।

देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे य विस्सुता।
पुण्ण-कम्मोदयब्भूत पीतिं पावति पीवर ।।

इस धरती पर जितने भी विश्व-विश्रुत देवेन्द्र, दानवेन्द्र अथवा नरेन्द्र हुए हैं, वे सब पुण्य कर्मों के उदय से ही जन-जन के प्रीति-पात्र बने हैं। उन्हे पर्याप्त जन प्रियता प्राप्त हुई है। कर्म-शास्त्रीय व्याख्या भी यही है, जैसे शुभनाम कर्म के उदय मे शरीर का सौन्दर्य, दृढता, जन प्रियता आदि उपलब्ध होते हैं। शुभगोत्र कर्म के उदय मे उच्चता, लोकपूज्यता आदि प्राप्त होते हैं। शुभ आयुष्य कर्म के उदय से सुखद दीर्घायु प्राप्त होती है। सात वेदनीय कर्म के उदय से शारीरिक और मानसिक सुख की अनुभूति होती है।

पुण्य-बधन का हेतु—जितने भी प्रकार की सत्प्रवृत्ति है, वह पुण्य-बधन का हेतु है।

अहिंसक, अपरिग्रही, त्यागी साधु-सतो की साधना मे सहयोग

करना—यह भी एक सत्प्रवृत्ति है, पुण्य-बन्धन का हेतु है। इस सहयोग-भावना से सद्गृहस्थ सतो की अध्यात्म-साधना मे आलम्बन बनते हैं। नव-तत्त्वो के विवेचन मे पुण्य-तत्त्व के नौ भेद बताए गए है, यह उक्त दृष्टिकोण का फलित है। जिस निमित्त से पुण्य का बन्धन होता है, वह पुण्य उस-उस नाम से अभिहित हो गया। जैसे सयमी को शुद्ध अन्न-दान से होने वाला शुभ, कर्म-बन्ध अन्न-पुण्य कहलाता है, वैसे ही पान-पुण्य लयन-पुण्य, शयन-पुण्य, वस्त्र-पुण्य, मन-पुण्य, वचन-पुण्य, काय-पुण्य और नमस्कार पुण्य ज्ञातव्य है। इसका अर्थ यह नही है कि पुण्य-बन्धन के हेतु इतने ही हैं। वास्तव मे पुण्य-बन्धन के हेतु अनेक हैं। यह विवेचन विशेप तो विवक्षा के सदर्भ मे किया है।

पुण्य का हेतु सत्प्रवृत्ति-एकत्व की विवक्षा से प्रतिपादन करें तो कह सकते हैं, पुण्य-बधन का एक मात्र निमित्त है—सत्प्रवृत्ति। उसके बिना पुण्य का बन्धन नही होता। सत्यप्रवृत्ति मोक्ष का उपाय है इसलिए वह धर्म है। धर्म के विना पुण्य नही होता। जैसे अनाज के साथ "खाखला"—तुष पैदा होता है, पर तुष के लिए खेती नही की जाती, वह प्रासगिक फल है। वैसे ही धर्म के साथ पुण्य का बन्धन होता है पर पुण्य के लिए धर्माराधना विहित नही है। धर्म-साधना आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, पुण्य उसके साथ सहज होता है। वह धर्माचरण का प्रासगिक फल है।

कुछ परम्पराए पुण्य का बन्धन स्वतन्त्र मानती हैं, उनके अभिमत से मिथ्यात्वी के धर्म नही होता, पर पुण्य का बन्धन होता है। तत्त्व-चितन की कसौटी पर यह मान्यता खरी नही उतरती। यद्यपि मिथ्यात्वी के सवर धर्म नही होता, पर निर्जरा धर्म तो होता ही है, वही उसकी आतरिक शुद्धि का निमित्त है। अन्यथा मिथ्यात्वी प्राणी सम्यक्त्व को कैसे प्राप्त कर सकता है ?

धर्म और पुण्य

धर्म के विना पुण्य नही होता। पुण्य का धर्म के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है, फिर भी धर्म पुण्य एक नही हैं। दोनो सर्वथा भिन्न हैं।

धर्म जीव है, क्योकि वह जीव की प्रवृत्ति है। पुण्य अजीव है, क्योकि वह शुभ कर्म है। कर्म पौद्गलिक है, इसलिए अजीव है।

धर्म मुक्ति का हेतु है, पुण्य वन्धन है अत ससार का हेतु है। धर्म, आत्मा की पर्याय है, पुण्य पुद्गल की पर्याय है। निर्जरा-धर्म सत्क्रिया है, पुण्य उसका प्रासगिक फल है।

पाप-अशुभ कर्मोदय

अशुभ कर्मों के उदय को पाप कहते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय,

मोहनीय और अतराय ये अशुभ कर्म हैं। शेप चार कर्म शुभ, अशुभ दोनो हैं। अशुभ कर्मो की उदयावस्था पाप है। उपचार से पाप कर्म-वन्धन के हेतु भी पाप कहलाते हैं। वे मुख्यत अठारह हैं, जैसे—१ प्राणातिपात पाप, २ मृषावाद पाप, ३ अदत्तादान पाप, ४ मैथुन पाप, ५ परिग्रह पाप, ६ क्रोध पाप, ७ मान पाप, ८ माया पाप, ९ लोभ पाप, १० राग पाप, ११ द्वेष पाप, १२ कलह पाप, १३ अभ्याख्यान पाप, १४ पैशुन्य पाप, १५ पर-परिवाद पाप, १६ रति-अरति पाप, १७ माया मृषा पाप और १८ मिथ्यादर्शनशल्य पाप।

जिसके उदय से आत्मा अशुभ प्रवृत्ति मे प्रेरित होती है, वह मोहनीय कर्म भी पाप कहलाता है। जैसे—जिस मोहोदय से प्राणी हिंसा के लिए प्रेरित होता है, वह प्राणातिपात पाप कहलाता है। जब असत्य मे प्रवृत्त होता है तब वह मृषावाद-पाप कहलाता है। जैसे – धर्म और पुण्य भिन्न हैं वैसे ही अधर्म और पाप भी भिन्न हैं। अधर्म असत् प्रवृत्ति है और पाप उसके द्वारा आकृष्ट अशुभ कर्मो की उदयावस्था है। अधर्म चेतना की वैभाविक परिणति है और पाप कर्म-पुद्गलो की परिणति है।

शुभ-अशुभ कर्मों की वद्धावस्था क्रमश द्रव्य पुण्य-पाप है और उदयावस्था भाव पुण्य-पाप। कर्म-पुद्गल जब तक उदय मे नही आते, फल-शून्य रहते हैं, तब तक "वन्ध" कहलाते हैं। जब उदय मे आकर चेतना को प्रभावित करने लगते हैं तब पुण्य-पाप कहलाते हैं।

पुण्य-पाप—दोनो वन्धन हैं

व्यवहार के धरातल पर पुण्य काम्य और पाप अकाम्य माना जाता है। पर अध्यात्म की भूमिका मे ये दोनो ही त्याज्य हैं। पुण्य और पाप—ये दोनो ही पौद्गलिक होने के कारण आत्मोदय के बाधक तत्त्व हैं। दोनो वन्धन हैं। दोनो वेडिया है। अतर इतना ही है कि पुण्य सोने की वेडी है और पाप लोहे की वेडी। पर वेडी आखिर वेडी है। वन्धन का हेतु है। इसी प्रकार पुण्य और पाप दोनो वन्धन हैं, मुक्ति के वाधक हैं।

पुण्य की कामना पाप

यद्यपि पुण्य का वन्धन सत्क्रिया के द्वारा होता है, शुभ योगो की प्रवृत्ति से होता है। शुभयोग मे निर्जरा होती है और साथ मे पुण्य का वधन भी होता है। लेकिन पुण्य के लिए सत्क्रिया करना अध्यात्म-साधक के लिए विहित नही है। साधक तप साधना आदि आत्म-शुद्धि के लिए करे, निर्जरा के लिए करे, पर पुण्य की कामना से न करे। क्योंकि पुण्य मुक्ति का साधन नही है।

की इच्छा करता है। भौतिक सुखो की इच्छा करना पाप है—बन्धन का हेतु है।

पुण्य से वैभव, वैभव से मद, मद से मूढता और मूढता से पाप का आचरण होता है। पाप दु ख का हेतु है। इस प्रकार पुण्य की परम्परा दुख -गर्भित है। पुण्य की आकाक्षा वे ही करते हैं, जो परमार्थ से अनभिज्ञ हैं।

कतिपय धार्मिक परम्पराए पुण्य के लिए सत्क्रिया का समर्थन करती हैं। आचार्य श्री भिक्षु ने इस मान्यता को स्वीकृति नही दी। आगमिक आधार पर उन्होने सिद्ध किया कि धर्म के विना पुण्य का स्वतत्र बन्धन नही होता तथा पुण्य की इच्छा से धर्म करना अनुचित है। उन्होने कहा—जो पुण्य की कामना से तप साधना आदि करते हैं, वे सत्क्रिया के सुफल से वचित रह जाते हैं। पुण्य चतु स्पर्शी-कर्म-पुद्गल हैं। जो उसकी इच्छा करते हैं वे मूढ हैं। वे धर्म और कर्म के मर्म को नही समझते।

पुण्योदय से होने वाले भौतिक सुखो मे जो प्रसन्न तथा अनुरक्त होते हैं वे कर्म का सग्रह करते हैं। दु ख-परम्परा को आगे बढाते हैं। निश्चय दृष्टि से देखा जाए तो पुण्य की अभिलाषा करने वाला भोगो की अभिलाषा करता है। भोग नरक, तिर्यंच आदि गतिचक्र मे परिभ्रमण का हेतु है।

श्रीमज्जयाचार्य ने लिखा है—पुण्य की इच्छा मत करो, वह खुजली रोग जैसा है, जो प्रारम्भ मे प्रिय लगता है, किन्तु उसका परिणाम विरस है। स्वर्ग, चक्रवर्ती आदि के सुख-भोग भी नश्वर हैं।

जैन आगमो ने गाया—ऐहिक या पारलौकिक कामना की पूर्ति के लिए तथा यश-प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति के लिए तप मत करो। वह मात्र निर्जरा के लिए करो।

वेदात के आचार्यों ने कहा—मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध दोनो ही प्रकार के कर्म मे प्रवृत्त नही होना चाहिए। यहा काम्य और निषिद्ध कर्म का वाच्यार्थ पुण्य और पाप ही है। सामान्यत पुण्य काम्य है और पाप निषिद्ध। अध्यात्म के तीर्थयात्री के लिए दोनो वर्ज्य हैं।

जैन-दर्शन के अनुसार पुण्य और पाप के क्षय से मुक्ति होती है। कर्म-क्षय के लिए अकर्म बनना आवश्यक है। प्रवृत्ति-निरोध से कर्म-निरोध होता है। साधना के प्रारम्भ मे असत्कर्म का निरोध होता है। एक भूमिका तक पहुचने के पश्चात् सत्कर्म का भी निरोध हो जाता है। यही कर्म-क्षय की प्रक्रिया है यही दु ख-क्षय का उपाय है। भगवान् महावीर ने 'सूयगडो' सूत्र मे कहा—

न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

कर्म से कर्मक्षय नही होता। धीर पुरुष अकर्म से कर्म क्षय करते हैं।

गीता का शिक्षापद है—बुद्धिमान वह है जो सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) दोनो का परित्याग करे। इन सन्दर्भों से सिद्ध हो जाता है कि अध्यात्म साधक के लिए पुण्य और पाप दोनो त्याज्य हैं।

तत्त्व-मीमासा की यात्रा मे धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप का सम्यक् अवबोध करना नितात अपेक्षित है।

धर्माधर्मौ पुण्य-पापे अजानन् तत्र मुह्यति।
धर्माधर्मौ पुण्य-पापे, विजानन् नात्र मुह्यति॥

—सबोधि २/४०

जो व्यक्ति धर्म और अधर्म तथा पुण्य और पाप को नही जानता, वह इस विषय मे मूढ़ होता है। जो इन्हें सम्यक् रूप से जानता है, वह इस विषय मे मूढ़ नही होता।

वह स्वतंत्र भी है और पूर्वोक्त चारो सूक्ष्म प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति का हेतु भी है।

चार सूक्ष्म वृत्तिया अशुभ ही होती हैं। योग शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है। अशुभ योग से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। शुभ योग से शुभ कर्मों का बन्ध होता है और साथ मे निर्जरा भी होती है। जैसे कुछ औषधिया रोगो का नाश करती हैं और शरीर का पोषण भी करती हैं, ठीक यही स्वभाव और कार्य शुभ योग का है। साधक पहले अशुभ का त्याग करता है और धीरे-धीरे शुभ कर्म भी छूट जाता है।

शुभ प्रवृत्ति जब फलाशसा और वासना से शून्य होती है, तब क्रमश निवृत्ति का विकास होता है। पूर्ण निवृत्ति की स्थिति मे आत्मा के बन्धन नही होता।

मोक्ष और मोक्ष के उपाय

जैन-धर्म और मोक्ष

जैन-धर्म का लक्ष्य है—मोक्ष। यही है जैन साधना का गन्तव्य शिखर।

कृत्स्नकर्मक्षयादात्मनः स्वरूपावस्थान मोक्षः ।

—जै० सि० दी० ५/१९

समस्त कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने पर आत्मा अपने ज्ञानदर्शनमय स्वरूप मे अवस्थित होती है, उसका नाम मोक्ष है। दूसरे शब्दो मे बद्ध आत्मा का मुक्त होना ही मोक्ष है। इस दृष्टि से मुक्त आत्मा और मोक्ष भिन्न नही है। जिस अवस्था मे कर्म-पुद्गलो का ग्रहण रुक जाता है और गृहीत कर्मों का सपूर्ण क्षय हो जाता है, वही मोक्ष है। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा अपने कारणो से ही बन्धती है और अपने कारणो से ही मुक्त होती है। दूसरा कोई भी उसे बांधने वाला या मुक्त करने वाला नही है।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है, फिर भी उचित उपायो द्वारा उस सबध का भी अंत हो सकता है। जैसे धातु-शोधन की प्रक्रिया से धातु और मिट्टी अलग-अलग हो जाते हैं, वैसे ही अध्यात्म-साधना की विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है।

जैन सिद्धात की भाषा मे मुक्त आत्माओ को सिद्ध कहते हैं। सिद्ध भगवान् को बुद्ध, मुक्त, परमात्मा, परमेश्वर या ईश्वर नाम से भी अभिहित किया जाता है। सिद्धात्माए अनन्त हैं। इसीलिए जैन-दर्शन एकेश्वरवाद को स्वीकार नही करता।

कर्म-मुक्त होते ही आत्माए लोकाग्र—लोक-शीर्ष तक पहुंच जाती हैं। वही उनका स्थायी निवास होता है। उनके निवास-स्थल को सिद्ध-शिला कहते हैं। उसका दूसरा नाम है—"ईषत्प्राग्भारापृथ्वी।'

भव-भ्रमण का हेतु है—राग-द्वेष। मुक्तात्माओ के राग-द्वेष समूल नष्ट हो जाते हैं, इसीलिए उनका पुनर्जन्म नही होता। वे अपुनर्भवी हैं।

मोक्ष मे मन, वाणी और कर्म नही हैं। इनके केन्द्र शरीर मे होते हैं। सिद्ध अशरीरी हैं, इसीलिए अकर्मा हैं।

मोक्ष मे आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाती है। वह आत्मा की निर्द्वन्द्व अवस्था है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जन्म-मृत्यु, आदि द्वन्द्व

उसे कभी प्रभावित नही करते। वह देहातीत है, द्वन्द्वातीत है।

प्रश्न होता है कि जब बन्धन और मुक्ति दोनो आत्मा के अधीन हैं तो फिर जीवात्मा बन्धन से मुक्ति की दिशा मे कैसे प्रस्थान कर सकती है? बन्धन-मुक्ति की प्रक्रिया क्या है?

जैन साधना-पद्धति के अनुसार मोक्ष के उपाय हैं—सम्यग् ज्ञान, दर्शन और चारित्र। एक दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र आत्मा का स्वरूप है। मोक्ष का अर्थ है—स्वरूप की उपलब्धि या स्वरूप मे अवस्थिति। उसका उपाय है—सवर और निर्जरा।

जैसे किसी बहुत बडे तालाब के जलागम के स्रोतो को बन्द कर दिया जाए, भीतर के पानी को जल-प्रणालियो द्वारा बाहर निकाल दिया जाए तथा बचे-खुचे पानी का सूरज की प्रखर किरणो से अवशोषण हो जाए तो तालाब क्रमश खाली हो जाता है, सूख जाता है, वैसे ही आत्मा की ओर आने वाले कर्म-प्रवाह का सवर द्वारा निरोध कर देना और अन्त. स्थिति कर्म-मलो का निर्जरा द्वारा निष्कासन और अवशोषण कर देना, यही है मुक्ति की प्रक्रिया। इससे कर्म-पुद्गलो का ग्रहण रुक जाता है और पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है। ऐसा होने पर आत्मा सिद्ध-बुद्ध, परमात्मरूप मे अवस्थित हो जाती है। अब उसके पास ससार मे रहने का कोई कारण नही रह जाता। अतः वह निर्वाण को प्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य की भाषा मे मोक्ष के साधक तत्त्व दो हैं—सवर और निर्जरा। दूसरे शब्दो मे निवृत्ति और सत् प्रवृत्ति।

सवर—मोक्ष का पहला उपाय है—सवर।

आश्रवनिरोधः सवर।

जै. सि दी ५/१

मोक्ष के बाधक और साधक तत्त्वो की चर्चा मे आस्रव को बाधक तथा सवर और निर्जरा को साधक माना गया है। सवर आत्मा की वह परिणति है, जिससे आस्रव का निरोध होता है। सवर मोक्ष का प्रकृष्ट हेतु है। वह आत्म-सयम करने से उपलब्ध होता है। सवर आस्रव का प्रतिपक्षी है। इसीलिए जितने आस्रव हैं, उतर ही सवर हैं। आस्रव के पाच विभाग हैं तो संवर भी पाच प्रकार का है।

सम्यक्त्व सवर—यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा का नाम सम्यक्त्व है। जीव-अजीव आदि नौ तत्त्वो के प्रति सम्यक् श्रद्धा का होना तथा विपरीत श्रद्धा का त्याग करना सम्यक्त्व सवर का स्वरूप है। यह मिथ्यात्व आस्रव का प्रतिपक्षी है।

विपरीत सवर—वाह्य पदार्थों के प्रति अनासक्ति अथवा अशुभ योग का त्याग विरति सवर है। इसके दो रूप हैं—देश विरति और सर्व-

विरति। सपाप-प्रवृत्तियों का आंशिक त्याग देश विरति और जीवन भर के लिए सपूर्ण त्याग सर्वविरति है। विरति सवर अविरति आस्रव का प्रतिपक्षी है।

अप्रमाद सवर—आत्म-विकास के प्रति जागरूक भाव अप्रमाद सवर है। इस स्थिति में पहुचने के पश्चात् व्यक्ति पापकारी प्रवृत्ति नही कर सकता। यह प्रमाद आश्रव का प्रतिपक्षी है।

अकषाय सवर—क्रोध, मान, माया और लोभ का निरोध करना अकषाय सवर है। वैसे राग-द्वेषात्मक उत्ताप जितना कम होता है, उतना ही कषाय कम होता है। पर अकषाय सवर फलित होता है कषाय के सर्वथा क्षीण होने से। यह कषाय आस्रव का प्रतिपक्षी है।

अयोग-सवर योग का अर्थ है प्रवृत्ति। प्रवृत्ति का निरोध करना अयोग सवर है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। अशुभ प्रवृत्ति का सपूर्ण निरोध व्रत (विरति) सवर है। शुभ प्रवृत्ति का सपूर्ण निरोध अयोग सवर है। जब तक योग का सपूर्ण निरोध नही होता, उस योग-सयम को अयोग सवर का नमूना माना जाता है। अयोग सवर की स्थिति में पहुच जाने के तत्काल बाद जीव मुक्त हो जाता है।

इन पाच सवरो में पहले सम्यक्त्व सवर होता है, फिर विरति होती है। उसके पश्चात् क्रमश अप्रमाद, अकषाय और अयोग की स्थिति उपलब्ध होती है।

वैसे सवर के अनेक प्रकार बतलाये गए है, पर वे विभिन्न विवक्षाओ के आधार पर वर्णित हैं। सवर के बीस भेद भी काफी प्रसिद्ध हैं। सामान्यत उन सबका समावेश इन पाच भेदो में हो जाता है।

निर्जरा—"तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्य निर्जरा। तपस्या के द्वारा कर्म-मल का विच्छेद होने से जो आत्मा की विशुद्धि, उज्ज्वलता होती है, उसे शास्त्रीय भाषा में निर्जरा कहते है। निर्जरा का साधन उपाय है—तप। इसलिए तप को भी निर्जरा कहते हैं। जैन साधना का विस्तार तप के आधार पर हुआ है। तप के बारह प्रकार है। इसलिए जैन साधना-पद्धति को "द्वादशांग तपोयोग" भी कहते है। निर्जरा तप का परिणाम है, अत तप की भाति निर्जरा के भी बारह प्रकार हैं।

१ अनशन मर्यादित या निरवधिक आहार-परिहार।

२ ऊनोदरी सामान्यत खुराक की मात्रा को कम करना ऊनोदरी है। इसमें खान-पान दोनो सम्मिलित है। वैसे सभी प्रकार की भोग-सामग्री का स्वल्पीकरण ऊनोदरी तप है।

३ भिक्षाचरी इसका दूसरा नाम है वृत्ति-सक्षेप। विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओ के द्वारा भोजन का परिमाण और स्थान की [illegible]

करना वृत्ति-सक्षेप है।

४. रस-परित्याग—दूध, दही, घी आदि सरस-स्निग्ध पदार्थों का वर्जन करना, अस्वाद का अभ्यास करना रस-परित्याग है।

५ कालक्लेश—विभिन्न आसनो द्वारा शरीर को साधने का नाम कायक्लेश है।

६. प्रतिसलीनता—इन्द्रिय, मन आदि की वहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी वनाना प्रतिसलीनता है।

तप के उक्त छह प्रकारो को बाह्य तप कहते हैं। ये विशेष रूप से स्थूल शरीर को प्रभावित करते हैं और बाह्यरूप से दिखाई देते हैं, इसलिए इन्हे बाह्य-तप कहते हैं, तथापि अतरग तप को पुष्ट करने मे इनकी अह भूमिका रहती है। तपोयोग की यात्रा मे खाद्य सयम का पहला स्थान है। बाह्य तप के चार भेद इसी परिप्रेक्ष्य मे किए गए हैं। साधना के विकास हेतु यह आवश्यक भी है। खाने के सयम के विना सयम और तप की अग्रिम भूमिका तक नही पहुचा जा सकता। अच्छाई का प्रारम्भ आहार-शुद्धि के व्रत से होता है। आहार-शुद्धि से सस्कार-शुद्धि, सस्कार-शुद्धि से विचार-शुद्धि और विचार-शुद्धि से व्यवहार-शुद्धि होती है।

बाह्य तप की भाति अतरग तप के भी छह प्रकार हैं।

१ प्रायश्चित्त—दोष की विशुद्धि के लिए प्रयत्न करना प्रायश्चित्त है। इससे आत्मा निर्मल होती है। ऋजुता-पूर्वक प्रायश्चित्त करने से मन की ग्रन्थियो का मोचन होता है और नया ग्रन्थिपात नही होता।

२. विनय—कर्मों का अपनयन करना विनय का आध्यात्मिक पक्ष है। अह-विसर्जन, बडो का बहुमान और उनके प्रति असद् व्यवहार का वर्जन विनय का व्यावहारिक पक्ष है।

३. वैयावृत्य—सहयोग की भावना से सेवा-कार्य मे जुडना वैयावृत्य है। इस तप की आराधना करने वाला छोटो-बडो की अपेक्षाओ को समझ कर सेवा-भावना और कर्तव्य-निष्ठा से उनका सहयोगी बनता है। पूर्ण आत्मार्थी भाव का विकास होने पर ही वैयावृत्य किया जा सकता है। यहा आध्यात्मिक सेवा ही तप की श्रेणी मे आती है। वही निर्जरा का कारण है।

४. स्वाध्याय—आध्यात्मिक ग्रन्थो के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन का नाम स्वाध्याय है।

५. ध्यान—मन की एकाग्रता तथा योग-निरोध का नाम ध्यान है। इससे चित्त-शुद्धि और आन्तरिक निर्मलता का विकास होता है। ध्यान की अन्तिम निष्पत्ति है—ज्ञाता-द्रष्टा भाव को जागृत कर आत्म-स्वरूप मे अवस्थित होना।

६. व्युत्सर्ग—बाह्य का विसर्जन व्युत्सर्ग है। यह शरीर से प्रारम्भ होता है, जिसे कायोत्सर्ग कहते हैं। कायोत्सर्ग को सब दुःखों का अन्त करने वाला कहा गया है। इसकी साधना से शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक तनाव समाप्त होता है। तनाव-जनित सभी समस्याओं से छुटकारा मिलता है। व्युत्सर्ग की अन्तिम यात्रा है पदार्थ-संग्रह का विसर्जन, सहयोग का विसर्जन, भावना का विसर्जन और कर्मों का विसर्जन।

ये छः प्रकार अन्तरंग तप—सूक्ष्म शरीर को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं। इनसे कर्म-शरीर क्षीण होता है। ये मोक्ष साधना के अन्तरंग हेतु होते हैं, इसलिए ये आभ्यन्तर तप की श्रेणी में आते हैं। बाह्य तप की भाँति इस आभ्यन्तर तप से स्थूल शरीर प्रभावित होता है ऐसा प्रतीत नहीं होता, किन्तु भीतर ही भीतर संस्कार (कर्म) शरीर में विस्फोट करने की प्रक्रिया चलती रहती है।

जैन-धर्म जड़ क्रियावादी नहीं है। अतः उसमें अज्ञान तप की प्रतिष्ठा नहीं है। जैन-धर्म में तप का रूप है वह अनुष्ठान जो इन्द्रिय और मन का निग्रह करता है तथा कर्म-शरीर को तपाता है। कर्म-शरीर का तापक होने से ही तप आत्मिक निर्मलता को सम्पादित कर सकता है।

राग और द्वेष पर-द्रव्य हैं, विभाव हैं, आत्मा को अशुद्ध करने वाले हैं। संवर और तप की साधना से आत्मा विभाव से मुक्त हो, स्वभाव में स्थित हो जाती है। इससे साधक की आत्मा में दिव्य ज्योति प्रकट होती है। वह चैतन्य के आलोक से भर जाता है तथा पूर्ण शुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। मोक्ष-अवस्था में प्रवेश मुमुक्षा का साकार होती है। मुक्ति का द्वार उन सबके लिए खुला है जो संवर और निर्जरा की साधना में समर्पित हो जाते हैं।

जैन दर्शन में द्रव्यवाद

हम जिस दुनिया मे जीते हैं वह अगणित रहस्यो के घेरो में कैद है। प्रत्येक बुद्धिमान या चिंतनशील व्यक्ति उन घेरो को पार कर सत्य के केन्द्र तक पहुचना चाहता है, यथार्थता का बोध करना चाहता है। दर्शन-जगत् और विज्ञान-जगत् अपने-अपने ढग से इन रहस्यो को अनावृत्त करने के लिए विश्व के स्वरूप की चर्चा करते हैं। इस सन्दर्भ मे जैन-दर्शन का मतव्य सर्वथा मौलिक और अद्भुत है। कई दृष्टियो से वह आधुनिक विज्ञान की अवधारणाओ से भी समानता रखता है।

जैन-दर्शन मे विश्व के लिए 'लोक' शब्द प्रयुक्त हुआ है। लोक के स्वरूप की विवेचना मे वह पञ्चास्तिकायवाद या षट्द्रव्यवाद का विशदता से प्रतिपादन करता है। लोक की व्याख्या का आधार छह द्रव्यो का अस्तित्व ही है। अनन्त आकाश के जिस भाग मे छह द्रव्य हैं, वह लोक है।

लोक भाषा मे द्रव्य शब्द का अर्थ है—वस्तु, पदार्थ या मेटर। समूचा विश्व पदार्थों से या वस्तुओ से भरा पडा है। पर दर्शन की भाषा मे उन सब वस्तुओ को द्रव्य नही कहा जाता। मूलभूत पदार्थ या वस्तु (अल्टीमेट रियल्टी) को ही द्रव्य कहा जाता है। जैन-दर्शन के अनुसार समग्र विश्व की सरचना या व्यवस्था के मौलिक अग छह हैं। उन्हे षड् द्रव्य कहते हैं। यह विश्व षड्द्रव्यात्मक है। विश्व मे जितने भी पदार्थ अपना वास्तविक अस्तित्त्व रखते है, उन सबका समावेश इन छह मौलिक द्रव्यो मे किया गया है। इन छह द्रव्यो की व्याख्या ही विश्व स्वरूप की व्याख्या है।

द्रव्य

किसी भी पदार्थ को मौलिक द्रव्य की सज्ञा तभी मिल सकती है, जबकि उसमे अपना कोई एक विशेष लक्षण ऐसा हो जो अन्य द्रव्यो मे न मिले और उस द्रव्य मे उसका अस्तित्व सदा-सर्वथा बना रहे। अवस्था-परिवर्तन के बावजूद भी उस गुण-धर्म की ध्रुवता लक्षित वस्तु मे अवश्य उपलब्ध हो, इस परिभाषा के अनुसार विश्व-व्यवस्था के हेतुभूत ये छह द्रव्य हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। इनमे पांच अस्तिकाय हैं—

धर्माधर्माकाशपुद्गल जीवास्तिकाय द्रव्याणि।

—जै. सि. दी. १/१

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। ये सदा अस्तित्ववान और सावयवी हैं।

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

—जै. सि. दी. १/२

द्रव्य वह होता है जो गुण और पर्यायों का आश्रय हो। काल जीव और अजीव की पर्याय है, पर औपचारिक द्रव्य होने से उसकी गणना द्रव्यों में की जाती है।

सामान्य परिभाषा

धर्मास्तिकाय—गति का माध्यम तत्त्व।

अधर्मास्तिकाय—स्थिति का माध्यम तत्त्व।

आकाशास्तिकाय—अवगाहन (आश्रय) देने वाला तत्त्व।

काल—परिवर्तन का हेतुभूत तत्त्व—समय।

पुद्गलास्तिकाय—वर्ण, गंध, रस और स्पर्श युक्त मूर्त जड़ पदार्थ।

जीवास्तिकाय—चेतन द्रव्य, चैतन्ययुक्त आत्मा।

इन छह द्रव्यों का प्रतिपादन जैन-दर्शन की मौलिक विशेषता है। जैन तत्त्व और दर्शन के जिज्ञासु व्यक्ति के लिए इनका सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

धर्मास्तिकाय—(Medium of motion of souls, matter and energies)

सपूर्ण विश्व-व्यवस्था मे ये दोनो द्रव्य अहभूमिका रखते हैं । एक ससार की सक्रियता का माध्यम है तो दूसरा निष्क्रियता का ।

धर्मो गति स्वभाव अथाऽधर्मः स्थिति लक्षण ।
तयोर्योगात्पदार्थाना गति-स्थिती रूदाहृते ।।
(—सबोधि)

जीव और पुदगल की गति-स्थिति क्रमश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर ही निभर है ।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व प्राय सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, किंतु धर्म और अधर्म की मीमासा जैन-दर्शन की मौलिक देन है । ये दोनो द्रव्य लोक-परिमित हैं । अलोक मे इनका सर्वथा अभाव है, इसलिए ये लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व भी हैं । धर्म और अधर्म के अभाव के कारण ही अलोक मे जीव तथा पुद्गलो की सत्ता, गति और अवस्थिति नही है ।

आकाशास्तिकाय—(Space, medium of location of soul etc)

अवगाह लक्षण आकाश —आश्रय देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है । यह चराचर जगत् आकाश के आधार पर ही टिका हुआ है । आकाश के दो भेद हैं—लोक और अलोक । जो आकाश षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है । जहां आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नही होता वह अलोकाकाश है । विज्ञान ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (नेगेटिव) कणो की खोज की है तो धनावेशी (पोजीटिव) कणो की भी खोज की है । प्रत्येक कण के साथ एक प्रतिकण का भी अस्तित्व है । यह विश्व सप्रतिपक्ष है । प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का भी कोई अस्तित्व या मूल्य नही रह जाता है । एक परमाणु मे अनेक प्रतिपक्षी गुण-धर्म रहते है । परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रोन है तो उसका प्रतिकण धनावेशी प्रोट्रॉन भी है । इस प्रकार यदि परमाणु के भीतर कणो और प्रतिकणो का अस्तित्व है तो ब्रह्माड मे भी विश्व तथा प्रतिविश्व होना चाहिए । वैज्ञानिक अभी तक इस सदर्भ मे किसी निर्णायक स्थिति मे नही पहुचे हैं, पर जैन-दर्शन इस माने मे बहुत ही स्पष्ट है । उसे प्रारम्भ से ही लोक और अलोक का अस्तित्व मान्य है ।

काल—(Time)

काल समयादि —समय आदि को काल कहते हैं । समय काल का सूक्ष्मतम अश है । काल अप्रदेशी है, अवयव रहित है । छह द्रव्यो मे काल की गणना औपचारिक रूप से की गई है । वास्तविक दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव-अजीव की पर्याय मात्र है । फिर भी प्रत्येक पदार्थ मे घटित होने वाले परिवर्तन का हेतु काल ही है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वह

सपूर्ण विश्व-व्यवस्था मे ये दोनो द्रव्य अहम्भूमिका रखते हैं । एक ससार की सक्रियता का माध्यम है तो दूसरा निष्क्रियता का ।

धर्मो गति स्वभाव अथाऽधर्मः स्थिति लक्षण ।
तयोर्योगात्पदार्थाना गति-स्थिती रूदाहृते ॥
(—सबोधि)

जीव और पुद्गल की गति-स्थिति क्रमश धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय पर ही निभर है ।

आकाश द्रव्य का अस्तित्व प्राय सभी दार्शनिक और वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं, किंतु धर्म और अधर्म की मीमासा जैन-दर्शन की मौलिक देन है । ये दोनो द्रव्य लोक-परिमित हैं । अलोक मे इनका सर्वथा अभाव है, इसलिए ये लोक और अलोक के विभाजक तत्त्व भी हैं । धर्म और अधर्म के अभाव के कारण ही अलोक मे जीव तथा पुद्गलो की सत्ता, गति और अवस्थिति नही है ।

आकाशास्तिकाय—(Space, medium of location of soul etc)

अवगाह लक्षण आकाश —आश्रय देने वाला द्रव्य आकाशास्तिकाय है । यह चराचर जगत् आकाश के आधार पर ही टिका हुआ है । आकाश के दो भेद हैं—लोक और अलोक । जो आकाश षड्द्रव्यात्मक है, वह लोक है । जहां आकाश के सिवाय अन्य कोई द्रव्य नही होता वह अलोकाकाश है । विज्ञान ने परमाणु के भीतर ऋणावेशी (नेगेटिव) कणो की खोज की है तो घनावेशी (पोजीटिव) कणो की भी खोज की है । प्रत्येक कण के साथ एक प्रतिकण का भी अस्तित्व है । यह विश्व सप्रतिपक्ष है । प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का भी कोई अस्तित्व या मूल्य नही रह जाता है । एक परमाणु मे अनेक प्रतिपक्षी गुण-धर्म रहते है । परमाणु के भीतर ऋणावेशी इलेक्ट्रोन है तो उसका प्रतिकण घनावेशी प्रोट्रॉन भी है । इस प्रकार यदि परमाणु के भीतर कणो और प्रतिकणो का अस्तित्व है तो ब्रह्माड मे भी विश्व तथा प्रतिविश्व होना चाहिए । वैज्ञानिक अभी तक इस सदर्भ मे किसी निर्णायक स्थिति मे नही पहुचे हैं, पर जैन-दर्शन इस माने मे वहुत ही स्पष्ट है । उसे प्रारम्भ से ही लोक और अलोक का अस्तित्व मान्य है ।

काल—(Time)

काल समयादि —समय आदि को काल कहते हैं । समय काल का सूक्ष्मतम अश है । काल अप्रदेशी है, अवयव रहित है । छह द्रव्यो मे काल की गणना औपचारिक रूप से की गई है । वास्तविक दृष्टि से काल द्रव्य न होकर जीव-अजीव की पर्याय मात्र है । फिर भी प्रत्येक पदार्थ मे घटित होने वाले परिवर्तन का हेतु काल ही है, इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से वह

द्रव्य माना जाता है। नैश्चयिक काल समग्र विश्व मे है, किंतु सूर्य-चन्द्रमा की गति से सापेक्ष समय मनुष्य लोक मे ही है।

पुद्गलास्तिकाय—(Matter and energy)

स्पर्श-रस-गध-वर्णवान् पुद्गल —यह जैन-दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। स्पर्श, रस, गध और वर्ण युक्त जड पदार्थ पुद्गल कहलाता है। आधुनिक परिवेश में उसे जड या भौतिक पदार्थ के रूप में जाना जाता है, जिसमें विज्ञान-सम्मत 'मेटर' और 'एनर्जी' दोनो का समावेश हो जाता है।

ससार में जितने भी दृश्य पदार्थ हैं सब पुद्गल हैं। ध्वनि, प्रकाश चुम्बकत्व, उष्मा आदि जिन्हे विज्ञान ऊर्जा (एनर्जी) के रूप में स्वीकार करता है, पुद्गल के ही रूप हैं।

प्राणी-जगत् के मन, भाषा, श्वास-प्रश्वास, शरीर, आहार आदि से सबधित समस्त प्रवृत्तिया पुद्गल-शक्ति के योग से सचालित हैं। जगत के विभिन्न पदार्थों के निर्माण और विनाश का आधारभूत तत्त्व पुद्गलो का सयोग और वियोग ही है। जीव की विविध रूपो में परिणतिया पुद्गल-सापेक्ष ही हैं। जीव और पुद्गल का सम्बन्धअनादि कालीन है। वही ससार का हेतु है। पुद्गलो के सयोग से मुक्त होते ही आत्मा का परमात्मतत्त्व प्रकट हो जाता है। वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

जीवास्तिकाय—(Soul, substance possessing consciousness)

चैतन्ययुक्त अमूर्त्त अवयवी द्रव्य का नाम जीव है। वह असख्य प्रदेशी पिंड है, फिर भी अविभाज्य है।

जीव का लक्षण है उपयोग—चेतना की सक्रियता। स्वसवेदन और सुख दु ख का सवेदन। जीव का अस्तित्व त्रैकालिक है। स्वतन्त्र है। वह जड तत्त्व से उत्पन्न नही होता और न कभी जड रूप में परिवर्तित होता है। ससारी जीव कर्म-बद्ध होता है। कर्म-शरीर की प्रेरणा से वह ससार में भ्रमण करता है, नाना योनियों में सुख-दु ख का अनुभव करता है। उसमें सकोच-विस्तार की अद्भुत क्षमता है। जन्मान्तर की यात्रा में जब उसे छोटा शरीर मिलता है तो उसी में समा जाता है और जब बडा शरीर मिलता है तो उतना विस्तार पा लेता है। जैन-दर्शन का जीव-विज्ञान सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है। जीव का अस्तित्व, उसके भेद-अभेद, विकास-क्रम; बन्धन और मुक्ति की प्रक्रिया—इत्यादि विषयो की सामान्य अवगति के पश्चात् छह द्रव्यो के सम्बन्ध में कुछ तथ्य और मननीय हैं—

- छह द्रव्यो में जीव चेतन है, शेष जड हैं।

- पुद्गल मूर्त्त है, शेष अमूर्त्त हैं ।
- आकाश लोक-अलोक में व्याप्त है, शेष द्रव्य लोक-परिमित हैं ।
- जीव और पुद्गल गतिशील हैं, शेष गति-शून्य हैं ।
- जीव और पुद्गल अनन्त-अनन्त द्रव्य हैं, शेष एक-एक द्रव्य हैं ।

चार अस्तिकाय प्रदेश-परिमाण से तुल्य है—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव ।

(ठाण—४/४९५)

चार अस्तिकायो से समूचा लोक स्पृष्ट-व्याप्त है—धर्मास्तिकाय से, अधर्मास्तिकाय से, जीवास्तिकाय से और पुद्गलास्तिकाय से ।

(ठाण—४/४९३)

चार कारणो से जीव और पुद्गल लोक से बाहर नही जाते—गति के अभाव से, निरूपग्रहता—गति तत्त्व का आलम्बन न होने से, रुक्ष होने से तथा लोकानुभाव से—लोक की सहज मर्यादा होने से ।

(ठाण—४/४९८)

तत्त्व बोध की यात्रा में षट्द्रव्यवाद का यह बोध-पाठ जिज्ञासा की नई खिडकिया खोलेगा तथा तत्त्व-रुचि की रश्मिया उसमें से निर्बाध प्रवेश पा सकेंगी, ऐसा विश्वास है ।

जैन-दर्शन में पुद्गल

जैन-दर्शन अनेकातवादी दर्शन है। वह न एकेश्वरवादी है और न केवल प्रकृतिवादी। वह जड और चेतन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। उसके अभिमत से जीव और अजीव दोनो वास्तविक तत्त्व हैं। विश्व व्यवस्था के आधारभूत छ द्रव्यो मे जीव के अतिरिक्त पाच द्रव्य अचेतन हैं। उनमे एक है पुद्गलास्तिकाय। यह स्वतत्र द्रव्य है। इसका अस्तित्व त्रैकालिक है। यह सावयवी है, मूर्त्त है।

प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राणी-जगत् के सपर्क मे आने वाली दृश्य, श्रव्य प्रत्येक वस्तु पुद्गल है। विज्ञान जिसके लिए "मेटर" शब्द का प्रयोग करता है, जैनेतर दर्शन जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन पुद्गल कहता है।

साख्य दर्शन में जो स्थान प्रकृति का है, वही स्थान जैन-दर्शन मे पुदगल का है। जीव के ससार-परिभ्रमण और सुख-दु ख के भोग का कार्य पुदगल-सापेक्ष है। साख्य-दर्शन की प्रकृति की भाति पुद्गल का विकास बुद्धि के रूप मे नही होता। बुद्धि चेतना का गुण है। पुद्गल जड है।

पुदगल जैन साहित्य का पारिभाषिक शब्द है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'पूरण-गलन-धर्मत्वात् पुद्गल ।"

पुद्गल पूरण-गलन-धर्मा होता है। "पुद्" का अर्थ होता है सश्लेष, मिलना और "गल" का अर्थ है विश्लेष, अर्थात् जो द्रव्य प्रतिक्षण मिलता-गलता रहे, बनता-बिगडता रहे, टूटता-जुडता रहे, वह पुद्गल है। छ द्रव्यों मे पुदगल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो खडित भी होता है और आपस मे सबद्ध भी होता है।

पुद्गल की व्यावहारिक पहचान है—जो छुआ जा सके, चखा जा सके, सूघा जा सके और देखा जा सके वह पुद्गल है। इसकी सैद्धातिक परिभाषा होती है—"स्पर्श-रस-गध-वर्णवान्-पुदगल" अर्थात् जिस द्रव्य मे स्पर्श, रस, गध और वर्ण निश्चित रूप मे पाए जाए, वह पुद्गल है।

स्पर्श—स्पर्श आठ प्रकार का होता है—स्निग्ध, रुक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, लघु और गुरु। स्थूल पुद्गल-समूह (स्कन्ध) मे आठो ही स्पर्श होते हैं। सूक्ष्म पुद्गल समूह मे चार स्पर्श होते हैं—स्निग्ध-रुक्ष तथा शीत और उष्ण।

जैन-पुद्गल विज्ञान मे उन पुद्गलो को चतु स्पर्शी पुद्गल कहा जाता है।

स्पर्श—परमाणु मे स्पर्श दो ही होते हैं। शीत और उष्ण मे से कोई एक तथा स्निग्ध और रुक्ष मे से कोई एक। परमाणु पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई है। अत उसमे मृदुता-कठोरता, हलकापन तथा भारीपन असम्भव है।

गंध—गध के दो प्रकार हैं—सुगध और दुर्गंध।

वर्ण (रग)—वर्ण के पाच प्रकार हैं—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत। दो या दो से अधिक रगो के सम्मिश्रण से अनेक नये रग बन जाते हैं, किन्तु उनका अन्तर्भाव इन पाच रगो मे ही हो जाता है।

रस—रस पाच प्रकार के हैं—मधुर, अम्ल, कटु, कषैला और तिक्त।

पुद्गल के चार भेद हैं—स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु। इनमे भी मौलिक भेद दो ही हैं—स्कन्ध और परमाणु। देश और प्रदेश ये कल्पिक भेद हैं।

स्कन्ध—परमाणुओ के एकीभाव को स्कन्ध कहते हैं। दो परमाणुओ के सयोग से जो स्कन्ध बनता है, द्विप्रदेशी स्कन्ध है। इसी प्रकार वे त्रिप्रदेशी दसप्रदेशी, सख्येय प्रदेशी, असख्येय प्रदेशी, असख्यात तथा अनन्तप्रदेशी स्कन्धो का निर्माण करते हैं। एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं, जैसे —अनेक शिलाखड। अनेक स्कन्ध मिलकर भी एक स्कध का निर्माण कर देते हैं, जैसे—अनेक तन्तुओ से निर्मित अखड वस्त्र।

देश—वस्तु के अविभाज्य काल्पनिक भाग को देश कहते हैं। जैसे—पाच मीटर कपडे का एक तिहाई भाग, दो तिहाई भाग इत्यादि।

प्रदेश—वस्तु के अविभाज्य-परमाणु जितने भाग को प्रदेश कहते हैं। इसे वस्तु के घटक तत्त्वो की अन्तिम ईकाई कह सकते हैं।

परमाणु—वस्तु का वह सूक्ष्मतम कण जो उससे पृथक् हो गया है। परमाणु इतना सूक्ष्म है कि उसको तोडा नही जा सकता। उसके अश नही हो सकते। प्रदेश और परमाणु मे इतना ही अन्तर है कि प्रदेश वस्तु से अपृथक् होता है और परमाणु पृथक्। परमाणु को अविभागी, प्रतिच्छेद भी कहते हैं। वह अतिसूक्ष्म है।

स्वतत्र परमाणु आखो से नही देखा जा सकता। जिसे हम देखते हैं, वह पुद्गल-समूह है। स्कध है। आधुनिक भौतिक विज्ञान भी इसका सवादी है। वैज्ञानिक मान्यता है कि जब हम परमाणु को देखते हैं तो निश्चित ही किसी-न-किसी शक्तिशाली भौतिक उपकरण का प्रयोग करते हैं। वह उपकरण किसी न किसी रूप मे परमाणु को प्रभावित करता है, उसमे परिवर्तन

हो जाता है और हम उस परिवर्तित परमाणु को ही देख पाते हैं। वास्तविक परमाणु को नही। जैन मान्यता के अनुसार वह स्कध है, उसे भी अनुयोगद्वार मे किसी अपेक्षा से परमाणु कहा है। वह व्यावहारिक परमाणु है।

विज्ञान भी परमाणु को अदृश्य मानता था। परमाणु अर्थात् किसी भी पदार्थ का सबसे सूक्ष्म टुकडा जिसे और सूक्ष्म न किया जा सके। विज्ञान की भाषा में परमाणु अर्थात् एक किलोमीटर का सोलह करोडवा हिस्सा। अनेक प्रोटोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन इसकी सरचना मे आधारभूत बनते हैं। माइक्रोस्कोप के माध्यम से विज्ञान ने परमाणु के इस रूप को देखने मे सफलता प्राप्त कर ली है। माइक्रोस्कोप वह यत्र है जो प्रकाश किरणो के परावतन द्वारा वस्तु को बडी कर दिखाता है। इसके आविष्कार मे भी उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक प्रगति हुई है। अनेक प्रकार के असाधारण शक्ति-सम्पन्न यत्रो का निर्माण हुआ है। उनमें कुछेक ये हैं—

- लाइट माइक्रोस्कोप—वस्तु को अधिक से अधिक दो हजार गुना बडा कर दिखाने वाला यत्र।
- इलेक्ट्रोन माइक्रोस्कोप—वस्तु को दस लाख गुना बडा कर दिखाने वाला यत्र।
- इलेक्ट्रोन टर्नेलिंग स्केनर—वस्तु को तीस करोड गुना बडा कर दिखाने वाला यत्र।

इसका आविष्कार स्विट्जरलैंड के वैज्ञानिक ने किया है, जिसके आधार पर "टर्नेलिंग ऑफ इलेक्ट्रान्स" का सिद्धान्त विकसित हुआ। जैन-दर्शन सम्मत परमाणु और विज्ञान का "एटम" अनेक समानताओ के बावजूद भी एक नही है। रसायन शास्त्र की खोज "एटम" को परमाणु का ही दूसरा रूप नही माना जा सकता।

विज्ञान की पूर्व अवधारणा थी कि "एटम" को तोडा नही जा सकता। पर अब यह मान्यता बदल चुकी है। वैज्ञानिक खोजो और प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि "एटम" उद्युत्कण, निद्युत्कण और विद्युत्कण—प्रोट्रोन, न्यूट्रोन और इलेक्ट्रोन का एक पिण्ड है। इसके विपरीत परमाणु वह मूल कण है जो दूसरो के मेल के बिना अपना स्वतत्र अस्तित्व बनाए हुए है। विज्ञान-सम्मत अणु वास्तविक अणु नही है। जैन मान्यता के अनुसार उसे व्यावहारिक अणु कहा जा सकता है।

- परमाणु मे कोई एक रस, एक गध, एक वर्ण और दो स्पर्श होते हैं।
- परमाणु के अस्तित्व का बोध उसके द्वारा निर्मित पुद्गल स्कध रूप कार्य मे ही होता है।
- वह इतना सूक्ष्म है कि उसके आदि, मध्य और अन्त का

प्रश्न ही नही उठता।

अन्य द्रव्यो की भाति पुद्गल-द्रव्य के भी अनन्त पर्याय हैं। उनमे कुछ पर्याय ऐसे हैं जिनका प्राणी जगत् के साथ विशेष सबध है।

शब्द, बधन, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान (आकृतिया) भेद, अहकार धूप, छाया, चादनी ये सब पुद्गल के विशिष्ट पर्याय हैं। ध्वनि भी पौद्-गलिक है।

सत् का एक अपरिहार्य लक्षण है—अर्थ क्रियाकारित्व—प्रत्येक पदार्थ अपनी अर्थ-क्रिया से स्वय को तथा अन्य को प्रभावित करता रहता है—इसे उपग्रह या उपकरण भी कहते हैं। पुद्गल द्रव्य जहा पुद्गल का उपकार करता है वहा जीव द्रव्य का भी उपकार करता है। जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सबध है। जीव की समस्त सासारिक अवस्थाए और क्रियाए पुद्गल सापेक्ष हैं। आहार, शरीर-निर्माण, इन्द्रिय-सरचना, श्वास-प्रश्वास, भाषा और मानसिक चिंतन के लिए वह निरन्तर पुद्गल को ग्रहण करता रहता है, यानी जीव की ये सब क्रियाए पौद्गलिक हैं। पुद्गलो से सम्पादित होती हैं।

पुद्गल ससारी जीवो के उपभोग में कैसे आते हैं, यह समझने के लिए पुदगल की विभिन्न वर्गणाओ से परिचित होना भी जरूरी है। वर्गणा का अर्थ है—सजातीय पुद्गलो के विभिन्न वर्ग –श्रेणिया। वे मुख्यत आठ हैं—

- औदारिक वर्गणा—स्थूल-शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल। जीवो के जितने दृश्य शरीर हैं वे सब औदारिक हैं।
- वैक्रियवर्गणा– वैक्रिय शरीर के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल। वैक्रिय शरीर नारक और देवो के होता है। योगी लोग योगज विभूति के द्वारा विभिन्न रूपो का निर्माण करते हैं, वह भी वैक्रिय शरीर है।
- आहारक वर्गणा—विचारो का सक्रमण करने वाले शरीर के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल।
- तैजस् वर्गणा—विद्युतीय शरीर के रूप में परिणत होने वाले पुद्गल।
- कार्मण वर्गणा—कर्म-शरीर के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल।
- भाषा वर्गणा—भाषा के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल।
- मनोवर्गणा—मन के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल।
- श्वासोच्छ्वास वर्गणा— श्वास-प्रश्वास के रूप मे परिणत होने वाले पुद्गल।

ये वर्गणाए पूरे लोक मे व्याप्त हैं। किन्तु इनका प्रयोग तभी सभव है, जब ये जीव द्वारा गृहीत हो जाए। इन वर्गणाओ के योग विना, ससारी प्राणी अपनी कोई भी क्रिया सपादित नही कर सकता। वह प्रतिक्षण इन वर्गणाओं के पुद्‌गलो का ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करता रहता है। हमे जितने भी जड पदार्थ दिखाई देते हैं, वे सब या तो जीव द्वारा गृहीत हैं या जीव द्वारा त्यक्त।

प्रस्तुत चर्चा के माध्यम से पुद्‌गल द्रव्य के सम्बन्ध मे प्राथमिक स्तर पर जानकारी देने का प्रयत्न किया गया है। इससे पुद्‌गल सम्बन्धी ज्ञान के साथ हमारी दृष्टि स्पष्ट हो जानी चाहिए कि जीव और पुद्‌गल ये दोनो ही मौलिक तत्त्व हैं। ससार मे जीव का स्थान महत्त्वपूर्ण है तो पुद्‌गल का स्थान भी कम महत्त्व का नही है।

ससार की लीला पुद्‌गलो की ही लीला है। जीव की सारी प्रवृत्तिया पुद्‌गल से ही सचालित हैं। पुद्‌गल के विना जीव एक क्षण के लिए भी ससार मे नही रह सकता। पुद्‌गल-जगत् से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही जीव की मुक्ति सभव है।

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार यह विश्व छ द्रव्यो का समूह है। पर्याय की दृष्टि से छहो द्रव्य परिणमनशील हैं। परिणमन दो प्रकार का होता है--स्वाभाविक और वैभाविक। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल इन चार द्रव्यों मे स्वाभाविक परिणमन होता है। जीव और पुद्‌गल मे स्वाभाविक और वैभाविक दोनो प्रकार के परिणमन होते हैं।

दृश्य जगत् की विचित्रता का कारण है जीव और पुद्‌गल का परिणमन। उसमे भी पुद्‌गल द्रव्य का परिणमन विशेष महत्त्वपूर्ण है। विश्व के छोटे-वडे सभी दृश्य-पदार्थ पुद्‌गल के विविध परिणमनो के कारण ही निर्मित होते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्‌गल का लक्षण है—स्पर्श, रस, गध तथा वर्णयुक्त होना। किन्तु पुद्‌गल के ये गुण विभिन्न प्रकार के परमाणुओ के सयोग-वियोग के कारण निरन्तर वदलते रहते हैं। पुद्‌गल का स्पर्श वदल जाता है, स्वाद वदल जाता है, गध वदल जाती है और रूप भी वदल जाता है, किन्तु एक वात ज्ञातव्य है कि पुद्‌गल मे सयोग-वियोग-जनित चाहे जितना परिवर्तन हो जाए फिर भी वह स्पर्शहीन, रसहीन, गधहीन और वर्णहीन नही होता।

पुद्‌गल का छोटा या वडा, दृश्य या अदृश्य कोई भी रूप हो, उसमे स्पर्श आदि चारो गुण अवश्यभावी हैं। जहा एक गुण होगा वहा प्रकट-अप्रकट रूप से शेष तीन गुण अवश्य होंगे। यह वात विज्ञान भी स्वीकार करता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ स्पर्श आदि चारो गुणो से युक्त होता

है। यह दूसरी बात है कि हमारी इन्द्रिय उसे ग्रहण करती है या नही जैसे उपस्तु किरण, जो अदृश्य ताप किरणें हैं, उन्हे हम नही देख सकते किंतु उल्लू और बिल्ली इन किरणो की सहायता से देख सकते हैं।

न्याय-दर्शन पृथ्वी आदि भुतो मे स्पर्श, रस, गध और वर्ण इन पुद्गल धर्मों को समन्वित रूप मे स्वीकार नही करता। वह कही-कही एक दो अथवा तीन धर्मों का ही अस्तित्व स्वीकार करता है। उसके अभिमत से जल के परमाणुओ मे गध नही होती, अग्नि के परमाणुओ मे गध और रस नहीं होते तथा वायु के परमाणुओ मे केवल स्पर्श ही होता है। किंतु जैन दर्शन पृथ्वी आदि क परमाणुओ मे मौलिक भेद नही मानता। वह सभी प्रकार के जड तत्त्वो मे स्पर्श आदि चतुष्टयी की अवस्थिति को अनिवार्य मानता है।

न्याय-दर्शन में पाच महाभूतो में उक्त पुद्गल धर्मों के अस्तित्व को स्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि वह पाचभूतो का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार वे स्वतन्त्र द्रव्य नही, अपितु पुद्गल द्रव्य ही हैं।

पुद्गल द्रव्य होने के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि और हवा इन सब मे आठ स्पर्श, पाच रस, दो गध और पाच वर्ण निश्चित रूप से विद्यमान हैं। जैसे अग्नि मे हमे सामान्यत गध की प्रतीति नही होती, क्योंकि हमारी नासिका उसे ग्रहण नही करती। लेकिन गध-वहन-प्रक्रिया से ज्ञात होता है कि अग्नि मे भी गध है। एक गधवाहक यत्र का आविष्कार हुआ है, जो मनुष्य की घ्राण शक्ति से कही अधिक सवेदनशील है। वह सौ गज की दूरी पर स्थित अग्नि के गध तत्त्व को पकड लेता है।

पुद्गल द्रव्य स्वतत्र द्रव्य है। द्रव्य वह है जिसमे गुण और पर्याय हो। गुण (Fundamental Reality) द्रव्य का अपरिवर्तनीय और स्थायी तत्त्व है। वह ध्रौव्य (Continuity) का प्रतीक है। वस्तु के अवस्था भेद या रूपातर को पर्याय कहते हैं। प्रतिक्षण घटित होने वाला परिवर्तन उत्पाद और व्यय—पर्याय का प्रतीक है। जैसे, शहर के गदे नाले का पानी भी जल-शोधन की प्रक्रिया से स्फटिक-सा उजला हो जाता है, यह पर्याय परिवर्तन है, पर जल तत्त्व स्थायी है, यह ध्रौव्य है। पानी के रूप, रग, स्वाद और गध मे परिवर्तन हो जाता है फिर भी वह स्पर्श, रस, गध विहीन नहीं होता, यह है पुद्गल द्रव्य का स्थायी भाव।

विज्ञान की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य मुख्यत चार वर्गों मे विभाजित है— १. ठोस, २ द्रव, ३. गैस और ४. प्लाजमा। यद्यपि आधुनिक विज्ञान ने १०३ ऐसे तत्त्वों की खोज कर ली है, पर वे सब उक्त चारो मे समाविष्ट हो

जाते हैं। ये तीनों तत्त्व सदा अपने-अपने वर्ग में ही रहें, यह जरूरी नही है, अपितु वे एक दूसरे के रूप मे परिवर्तित हो जाते हैं।

ऑक्सीजन और हाइड्रोजन गैसें हैं, इन दोनो के मिलने से जल वन जाता है। जल वनस्पति मे रूपातरित हो जाता है। इस प्रकार गैस द्रव्य ठोस पदार्थ मे वदल जाता है। दूसरी वात, जल अग्निशामक होता है, आग को बुझा सकता है, लेकिन जल के उपादान—हाइड्रोजन मूलत ज्वलनशील है और ऑक्सीजन गैस आग को उत्तेजित करने वाली है, तथापि ये दोनो गैसें एक निश्चित अनुपात मे जब मिलती हैं तो दोनो के गुण-धर्म वदल जाते हैं। पानी आग को भडकाने की वजाय उसे बुझाने के काम आता है।

पुद्गल की नित्यता

पुद्गल द्रव्य चाहे कितना ही परिवर्तित हो जाए, उसकी मौलिकता कभी नष्ट नही होती। पुद्गल की मौलिकता है—स्पर्श, रस गध और वर्ण। ये पुद्गल से एक समय के लिए भी पृथक् नही होते। मौलिकता रूपातरित हो सकती है, पर स्पष्ट नही। पुद्गल द्रव्य की मौलिकता न किसी अन्य द्रव्य मे परिवर्तित होती है और न किसी अन्य द्रव्य की मौलिकता पुद्गल द्रव्य मे विलीन होती है। इसलिए जीव की भाति पुद्गल भी ध्रुव तत्त्व है। नित्य है। नित्य द्रव्य की पहचान है—जो कभी सख्या मे कम अधिक नही होता, जिसका न आदि हो, न अन्त। जो न किसी अन्य द्रव्य के रूप मे परिवर्तित होता है और न किसी अन्य द्रव्य को अपने मे परिवर्तित करता है।

विश्व मे पुद्गल-परमाणु अनादिकाल से जितने थे, उतने ही हैं और अनतकाल तक उतने ही रहेगे। पुद्गल का परिणमन होता है, पर वह होता है पुद्गल मे ही। पुद्गल कभी जीव नहीं बनता और जीव कभी पुद्गल नही बनता। आधुनिक विज्ञान भी यही मानता है कि विश्व मे स्थित पदार्थ और ऊर्जा की सयुक्त राशि सदा शाश्वत रहती है। पदार्थ और ऊर्जा के रूपातरण के वावजूद भी कुल राशि सदा अचल बनी रहती है। जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल द्रव्य अनत हैं। अनत परमाणुओ और अनत प्रदेशी (विस्तार के लिए देखें—विश्व प्रहेलिका पृ २११, १७१) स्कधो से विश्व भरा पडा है।

पुद्गल की अनित्यता

पुद्गल द्रव्य विश्व का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। वह द्रव्य की अपेक्षा नित्य है, ध्रुव है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य भी है। उसमे परिवर्तन की क्रिया निरतर चालू रहती है।

ईसा की उन्नीसवी सदी तक वैज्ञानिको की मान्यता थी कि मूल

तत्त्व (element) अपरिवर्तनीय है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप मे नही बदल सकता किन्तु अब तेजोद्गरण (रेडियो एक्टीविटी) आदि के अनु-सधानो से सिद्ध हो चुका है कि तत्त्व परिवर्तित हो सकता है। जैसे यूरेनियम के एक अणु मे से जब तीन "अ" कण-विच्छिन्न हो जाते हैं तो वह एक रेडियम अणु के रूप मे बदल जाता है। इसी प्रकार जब रेडियम का एक अणु पाच "अ" कणो मे विभाजित हो जाता है तो वह "सीसा" के अणु के रूप मे बदल जाता है। यह है पुद्गल-परमाणुओ के विश्लेषण से होने वाला परिणमन। इसी प्रकार परमाणुओ के सश्लेष—सयोग से भी परिणमन होता है। जैसे नाइट्रोजन के एक अणु के न्यूक्लियस मे जब एक "अ" कण मिल जाता है तो वह ऑक्सीजन का एक अणु बन जाता है।

सक्रियता और शक्ति

जीव की भाति पुद्गल भी सक्रिय है और अनत शक्ति-सम्पन्न है। पुद्गल की क्रिया को शास्त्रीय भाषा मे परिस्पद कहते हैं। वह स्वत भी होता है और अन्य पुद्गलो या जीव की प्रेरणा से भी होता है। पुद्गल की गति-क्रिया अप्रतिहत होती है। वह पहाड के आर-पार निकल सकता है। अणुओ का परस्पर टकराव और मिलन भी होता रहता है। प्रत्येक भौतिक पदार्थ से निरतर रश्मिया या तरगें निकलती रहती हैं। यह भी उसकी सक्रियता का प्रतीक है।

"टनेलिंग ऑफ इलेक्ट्रोन्स" सिद्धात के आधार पर एक नया तथ्य प्रकाश मे आया है कि यदि दो वस्तुए परस्पर छू रही हो या बहुत आस-पास रखी हो तो एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे इलेक्ट्रोन्स की उछल-कूद मचने लगती है। इसे वैज्ञानिको ने "टनेलिंग फिनामिना" कहा है। जैसे मुम्बई या पूना के सपाट मैदानो मे पर्वतीय सुरग के माध्यम से रेल्वे का गमनागमन होता है। वैसे ही वस्तुगत अणुओ (इलेक्ट्रोन्स) का गमनागमन होता है। यह सारा कार्य पुद्गल के मौलिक गुण गलन-मिलन के कारण होता है। भौतिक विज्ञान भी पदार्थ के इस स्वभाव को स्वीकृत करता है और उसके लिए दो शब्दो का प्रयोग करता है—Fusion और Fision फ्यूजन का अर्थ है—"मिलना" और फिजन का अर्थ है—"गलना"।

विज्ञान के अनुसार प्रकाश की गति एक लाख छियासी हजार मील प्रति सैकेण्ड है। किंतु जैन दर्शन के अनुसार पुद्गल की गति इससे भी तीव्र है। वह काल के सूक्ष्मतम अश (एक समय) मे लोक के एक छोर तक पहुच सकता है।

पुद्गल अनत शक्ति-सम्पन्न है। "l आई" का शक्ति सिद्धात भी इसका सवादी है। उसके अनुसार एक परमाणु से ३,४५,८०० केलोरी शक्ति

उत्पन्न हो सकती है। वास्तव में एक परमाणु में कितनी शक्ति है, इसका विज्ञान अभी तक अंदाजा नहीं लगा पाया है। इस क्षेत्र में नित नये रहस्य खुलते जा रहे हैं। फिर भी पदार्थ को शक्ति के रूप में बदलने की संभावना के अनुसार कहा जाता है कि एक पौंड या ४५० ग्राम पदार्थ में इतनी शक्ति होती है, जितनी चौदह लाख टन कोयला जलाने पर मिलती है। यदि ऐसा संभव हो जाए तो ४५० ग्राम कोयले में पूरी अमेरिका के लिए एक माह तक चलने वाली बिजली तैयार हो सकती है।

पुद्गल में संकोच-विस्तार की अद्भुत शक्ति होती है। इसलिए असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनंत प्रदेशी पुद्गलों के अनंत-अनंत स्कन्ध समाहित हो जाते हैं।

सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति के कारण पुद्गल परमाणुओं और स्कन्धों में ऐसी सूक्ष्मतम परिणति होती है कि एक ही आकाश प्रदेश में अनंतानंत पुद्गल रह सकते हैं। जैसे एक कमरे में एक दीया जलाया जाता है तो उसका प्रकाश पूरे कमरे में फैल जाता है और यदि उसी कमरे में सौ दिये जला दिये जाते हैं तो वह शत् गुणित प्रकाश भी उस कमरे में समाहित हो जाता है। उन प्रकाश-अणुओं को अतिरिक्त स्थान रोकने की अपेक्षा नहीं रहती। यह तथ्य विज्ञान-सम्मत भी है। डॉ० एडिंग्टन के अभिमत से एक टन न्यष्टीय-पुद्गल (न्यूक्लीयर मैटर) को सघन बनाया जाए तो वह हमारे वास्केट के जेब में समा सकता है।

इन सब अध्ययनों के संदर्भ से ज्ञात होता है कि जैन दर्शन का समस्त पुद्गल और परमाणु सिद्धांत कितना वैज्ञानिक है। एक विज्ञान के विद्यार्थी को दोनों में अद्भुत समानता के दर्शन होते हैं।

जैन दर्शन में प्रतिपादित पुद्गल द्रव्य को समग्रता से समझ लेने के पश्चात् ही आधुनिक विद्वानों की धारणा पुष्ट हुई है कि आधुनिक विज्ञान के सर्वप्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर ही थे।

संदर्भ

१ जैन सिद्धान्त दीपिका।

२ हजारीमल स्मृति ग्रंथ-लेख—"दर्शन व विज्ञान के क्षेत्र में पुद्गल द्रव्य।"

३ श्री पुष्कर मुनि अभिनंदन ग्रन्थ लेख—जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण (श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री)

४ विश्व प्रहेलिका, लोक-द्रव्य।

जैनदर्शन में आत्मवाद

आत्म विद्या : परम विद्या

उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु का एक मार्मिक दृष्टात है। श्वेतकेतु गुरुकुल से सपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर आया। प्रतिभा सपन्न था। गुरुकुल की सब परीक्षाए प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। अनेक स्वर्णपदक प्राप्त किए होगे। यौवन की उष्मा। सिर पर ज्ञान-राशि का गोवर्धन पर्वत। अकडना स्वाभाविक था। पिता के चरणो मे प्रणत नही हो सका। सीधा खडा रहा। पिता ने देखा। सोचा—इतना पढ-लिख कर भी अज्ञानी का अज्ञानी आ गया। पिता निराश हुए। पुत्र पर प्रसन्नता का प्रसाद नही वरसा। गभीर मुद्रा मे पूछा—गुरुकुल मे क्या-क्या पढा ? पुत्र ने पठित विषयो की लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी। ऋषि ने वत्सलभाव से पूछा—वत्स, ऐसी कोई चीज पढ़ी है, जिसको जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है। श्वेतकेतु का मुख श्वेत हो गया। वह बोला—ऐसा तो हमारे अभ्यासक्रम मे किसी ने नही सिखाया। उद्दालक ने पुन प्रश्न किया—आत्मा को जाना ? आत्मा को पहचाना ? उसने नकारात्मक सिर हिलाया। ऋषि ने कहा—पुत्र, आत्मविद्या वह परम विद्या है जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है। आत्मज्ञान के अभाव मे सब कुछ जानकर भी व्यक्ति अज्ञानी रह जाता है।

काल की लम्बी अवधि मे न जाने ऐसे कितने श्वेतकेतु हो चुके हैं और वर्तमान मे भी कितने हैं, जो विभिन्न विद्या-शाखाओ मे पारगामिता प्राप्त कर के भी आत्मा के सम्बन्ध मे अनजान हैं। स्वय से अपरिचित हैं। तत्वबोध की यात्रा का आदि विन्दु है--आत्मा। भगवान महावीर ने भी कहा—"जे एग जाणइ से सव्व जाणइ" जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सव कुछ जान लेता है।

हम और हमारा अस्तित्व

हमारा अस्तित्व दो तत्त्वो का सयोग है। एक है चेतन—जीव, दूसरा है अचेतन—शरीर। कुछ लोग केवल शरीर को ही मानते हैं। वे चेतन या आत्मा की स्वतत्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे अनात्मवादी हैं। आत्मवादी दर्शन आत्मा और शरीर को भिन्न मानता है और चेतन के स्वतत्र

अस्तित्व को स्वीकार करता है।

उसके आधार पर भारतीय चिंतन दो धाराओं में विभक्त हो गया। एक धारा का नाम है, क्रियावाद और दूसरी का नाम है अक्रियावाद।

आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष पर विश्वास करने वाले क्रियावादी तथा इन पर विश्वास न करने वाले अक्रियावादी कहलाए।

क्रियावादी वर्ग ने सयमपूर्वक जीवन विताने का, धर्माचरण करने का उपदेश दिया। क्योंकि उनके अभिमत से आत्मा का अस्तित्व है। वह अपने सुकृत और दुष्कृत का फल भोगती है। शुभ-कर्मो का अच्छा और अशुभ कर्मो का बुरा फल होता है। आत्मा का पूर्वजन्म और पुनर्जन्म होता है। वह अपने पुण्य और पाप कर्मों के साथ ही परलोक मे जाती है। पुण्य और पाप दोनो का क्षय होने से असीम आत्म-सुखमय मोक्ष होता है। इस चिंतन के आधार पर लोगो मे धर्म के प्रति रुचि जागृत हुई। अल्प-इच्छा, अल्प-आरम्भ और अल्प परिग्रह का महत्त्व बढ़ा। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपासना करने वाला महान् समझा जाने लगा। समाज मे सयम और त्याग की प्रतिष्ठा हुई।

अक्रियावादी वर्ग ने सुख-पूर्वक जीवन विताने को ही परमार्थ माना। उनके अभिमत से सुकृत और दुष्कृत का शुभ और अशुभ फल नही होता। आत्मा शरीर के नाश के साथ ही नष्ट हो जाती है। वह परलोक मे जाकर उत्पन्न नही होती। अक्रियावाद का घोष रहा—जो काम-भोग प्राप्त है, उनको जी भर कर भोगो, कल का क्या भरोसा ? परलोक है या नही, किसने देखा है ? इस विचार-धारा के प्रभाव से लोगो मे भौतिक लालसा प्रबल हुई। महा-इच्छा, महा-आरम्भ और महा-परिग्रह का राहु जगत् पर छा गया।

क्रियावाद के तत्त्व-प्रतिपादन का मुख्य आधार रहा—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष। उन्होंने कहा—आत्मा के अस्तित्व मे सदेह मत करो। आत्मा अमूर्त है इसलिए इन्द्रिय-ग्राह्य नही है। पर इन्द्रिय-ग्राह्य न होने मात्र से उसके स्वतत्र अस्तित्व को नकारा नही जा सकता। इन्द्रिया अमूर्त पदार्थ को नही जान सकती, फिर भी चैतन्य के व्यापार के आधार पर उसके अस्तित्व का बोध होता है। (उत्तरज्झयणाणि)

इसके विपरीत अक्रियावाद का विश्वास इन्द्रिय-प्रत्यक्ष पर रहा। उनके अभिमत से यह लोक इतना ही है, जितना दृष्टिगोचर होता है। आत्मा दृष्टि का विषय नही है, इसलिए उसके अस्तित्व मे सदेह है। इस जगत् मे केवल पृथ्वी पानी अग्नि वायु और आकाश—ये पांच महाभूत ही वास्तविक है। इनके समुदाय से चैतन्य अथवा आत्मा उत्पन्न होती है। भूतो का नाश हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है।

जीवात्मा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। जिस प्रकार अरणि की लकडी से आग, दूध से घी और तिलो से तेल उत्पन्न होता है, वैसे ही पचभूतात्मक शरीर से जीव उत्पन्न होता है। शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा नाम की कोई वस्तु शेष नही रहती।

आचार-व्यवहार पर विचार का प्रभाव

ये दो विचार-धाराए हैं जो प्राचीनकाल से ही मानव-जीवन के विचार और आचार पक्ष को प्रभावित करती रही हैं। इनसे केवल दार्शनिक दृष्टिकोण ही नही बनता, किन्तु वैयक्तिक जीवन से लेकर सामाजिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन की नीव इन्ही पर खडी होती है। क्रियावादी और अक्रियावादी का जीवन-पथ एक जैसा नही हो सकता। क्रियावादी के प्रत्येक कार्य मे आत्म-शुद्धि का ध्यान रहेगा। अक्रियावादी उसकी चिंता नही करेगा। जहा आत्मवादी की गति त्याग की ओर होगी वहा अक्रियावादी की गति होगी भोग की ओर।

क्रियावादी और अक्रियावादी वर्गों को आज की भाषा मे आस्तिक और नास्तिक कहा जाता है। इस विचार धारा का प्राचीन प्रतिनिधि चार्वाक-दर्शन था। आधुनिक कम्युनिज्म को उसी का विकसित रूप माना जा सकता है।

जैन-धर्म आस्तिक दर्शनो मे एक है। वह आत्मवाद, कर्मवाद, पर-लोकवाद और निर्वाणवाद का पुरस्कर्ता है।

आत्मा क्या है

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी के शब्दो मे जीव, जीव के गुण और जीव की क्रियाए—इन सबको आत्मा कहते हैं। आत्मा एक चेतनावान पदार्थ है। उसका लक्षण है—उपयोग। उपयोग का अर्थ है—चेतना का व्यापार। आत्म तत्व की पहचान का आधार है उसकी ज्ञान-दर्शन मे परि-णति तथा सुख-दुःख की अनुभूति। आत्मा जड पदार्थ से उत्पन्न नही है। वह चैतन्य गुणयुक्त स्वतन्त्र सत्ता है।

प्रश्न होता है, आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नही है, फिर उन्हे क्यो माना जाए? इसके समाधान मे कहा गया कि पदार्थों को जानने का माध्यम मात्र इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नही, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम से भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इन्द्रिय और मन की शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे सब कुछ नही जाना जा सकता। इन्द्रिया मात्र स्पर्श, रस, गध और वर्ण को जान सकती हैं। मन भी इन्द्रियो का अनुगामी है। आत्मा अरूपी सत्ता है। वह स्पर्श, रस-गध और वर्ण नही है। शब्दो का प्रयोग करने वाला, गध का

अनुभव करने वाला, स्पर्श और रस का ज्ञान करने वाला तत्त्व आत्मा है। किन्तु वह भौतिक उपकरणों के द्वारा जाना नहीं जाता। (आयारो)

विज्ञान और आत्मा

प्राचीन समय से ही मानव-मन में आत्मा को जानने की प्रबल इच्छा रही है। उपलब्ध साधन-सामग्री द्वारा उसकी खोजें हुई हैं। प्रयोग और परीक्षण भी हुए हैं। आज से अढ़ाई हजार वर्ष पहले कौशाम्बी के शक्तिशाली राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक काल में शारीरिक अवयवों के विश्लेषण एवं परीक्षण द्वारा आत्म-प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए थे। पर वह आत्मा को जानने-देखने के लक्ष्य में सर्वथा असफल रहा। आधुनिक वैज्ञानिक भी आत्मा को सिद्ध करने में सफल नहीं हुए हैं। उन्होंने १०३ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्त्त (रूपी) हैं। वैज्ञानिकों ने जितने प्रयोग किए हैं, मूर्त द्रव्यों पर ही किए हैं। फिर भी वे आत्मा के अस्तित्व के बारे में सिद्ध तक नहीं पहुंच पाए हैं। इसका कारण यही है, भौतिक उपकरणों तथा इन्द्रियों के द्वारा भौतिक पदार्थों का बोध-विश्लेषण किया जा सकता है, पर अभौतिक, अमूर्त्त आत्मा का ज्ञान उनसे नहीं हो सकता। उसके लिए इन्द्रियातीत चेतना का जागरण आवश्यक है। आत्मा और परलोक की अन्वेषक परिषद् के सदस्य सर ओलिवर लॉज ने लिखा—"हमें भौतिक ज्ञान के पीछे पड़कर पारभौतिक विषयों को नहीं भूल जाना चाहिए।" उन्होंने आगे लिखा "चेतना जड़ का कोई गुण नहीं है। किन्तु उसमें समाई हुई, स्वयं को प्रदर्शित करने वाली स्वतन्त्र सत्ता है। प्राणी मात्र के अन्दर एक ऐसी वस्तु है जिसका शरीर के नाश के साथ अन्त नहीं हो जाता।" यह विचार जैन-दर्शन के बहुत निकट है।

आत्मा और शरीर

मक तत्त्व कोई दूसरा है जो अदृश्य है। शरीर के सो जाने पर भी वह शक्ति नही सोती। वह सतत जागृत तत्त्व 'चेतना' ही है। उस अदृश्य चेतन तत्त्व की सत्ता सर्वत्र काम कर रही है। पाच-छ फुट के इस छोटे-से शरीर मे जो स्वचालित क्रियाए हो रही हैं वे इस अदृश्य की ही सूचना दे रही हैं। वैज्ञानिक कहते हैं—"यदि इस शरीर का निर्माण हमे करना पडे तो कम-से-कम दस वर्ग मील मे एक कारखाना बनाना पडे।

महान् दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञ आत्मा के अस्तित्व को बहुत ही सरल शैली मे समझाते हैं। वे कहते हैं—"हमारे स्थूल शरीर मे एक सूक्ष्म शरीर है, उसका नाम है तैजस शरीर। उसके भीतर सूक्ष्मतर शरीर है, उसका नाम है कर्म शरीर। उसके भीतर आत्मा है वह हमारे आचार, विचार और व्यवहार का सचालन करता है, नियमन करता है। चेतना की रश्मिया कर्म और तैजस् शरीर की दीवारो को पार कर स्थूल शरीर तक पहुचती हैं। उससे हमारा ज्ञान-तन्त्र, भाषा-तन्त्र और क्रिया-तन्त्र सक्रिय होता है। उसी के आधार पर व्यक्ति का व्यक्तित्व निर्मित होता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि आत्मा हमारे प्रत्यक्ष नही है, फिर भी उसके गुण-धर्म प्रत्यक्ष हैं। यही आत्मा की अस्तित्व-सिद्धि का पुष्ट प्रमाण है।

जैन-दर्शन में आत्मा

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी—विभिन्न अवस्थाओ मे परिणत होने वाला कर्त्ता और भोक्ता है। वह स्वय अपनी सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों का सचय करता है और उनका फल भोगता है।

आत्मा का कोई आकार-प्रत्याकार नही होता। वह न हल्का है, न भारी, न स्त्री है, न पुरुष। ज्ञानमय असख्य प्रदेशो का समूह है।

आत्मा एक द्रव्य है, वह चैतन्य का अजस्र स्रोत है। उसके अनेक गुण-धर्म हैं। उनमे दो प्रमुख हैं—गुण और पर्याय। कुछ वस्तु धर्म ऐसे होते हैं जो सदा अमुक द्रव्य के साथ रहते हैं, बदलते नही, वे गुण कहलाते हैं। परिवर्तनशील धर्म पर्याय कहलाते हैं। गुण और पर्याय की दृष्ट से आत्मा के मुख्य दो भेद होते हैं—द्रव्य आत्मा और भाव आत्मा।

द्रव्य आत्मा एक है। वह चेतना-मय असख्य अविभाज्य अवयवो का समूह है। यानी आत्मा असख्य प्रदेशी है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक, दो तीन प्रदेशी जीव नही होते। असख्य प्रदेशो के समुदाय का नाम ही जीव या आत्मा है।

द्रव्य आत्मा त्रैकालिक तत्त्व है। वह अजर-अमर है। वह न कभी जन्मता है, न मरता है। उसका अस्तित्व कभी समाप्त नही होता। अतीत

में उसका अस्तित्व था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। आत्मा कभी अनात्मा (जड़) नहीं होती। शरीर के छूट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है।

द्रव्य की दृष्टि से शाश्वत और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से आत्मा परिवर्तनशील और अनेक हो जाती है। यह परिवर्तनशीलता ही भाव आत्मा है। द्रव्य और भाव की विवक्षा से आत्मा के आठ भेद हो जाते हैं, जैसे—चेतना या शुद्ध स्वरूप द्रव्य आत्मा है। क्रोध, मान, माया और लोभ से रंजित होने पर वह कषाय आत्मा बन जाती है। आत्मा की चंचलता, प्रवृत्ति योग आत्मा है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप में व्यापृत होना उपयोग आत्मा है। ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक चेतना ज्ञान-आत्मा और दर्शन-आत्मा है। आत्मा की विशिष्ट संयममय अवस्था चरित्र आत्मा है। आत्मा की शक्ति वीर्य आत्मा है। ये आठ आत्माएं सापेक्ष दृष्टि से बताई गई हैं। वास्तव में आत्मा की जितनी पर्यायें—अवस्थाएं हैं, वे सब भाव आत्मा हैं। इस दृष्टि से आत्मा अनन्त हो सकती है। सैद्धांतिक भाषा में इन आठ आत्माओं के अतिरिक्त आत्मा की सभी अवस्थाओं को अन्य (अनेरी) आत्मा कहा जाता है।

जैन-दर्शन के अनुसार संसारी आत्मा राग-द्वेष मूलक प्रवृत्ति के कारण कर्मों का बंधन करती है। कर्मबद्ध जीव नाना योनियों में परिभ्रमण करता हुआ, कर्मानुसार सुख-दुःख का संवेदन करता है। राग-द्वेष को क्षीण कर आत्मा कर्म-मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्मा निर्वाण को प्राप्त कर आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। मुक्त आत्माएं अनन्त हैं। उन सब का स्वतंत्र अस्तित्व है। वे पुनः भव-भ्रमण नहीं करतीं। आत्मवादी दर्शनों का परम ध्येय मोक्ष-प्राप्ति ही है।

हमें इस सचाई को भी नहीं भूल जाना है कि शास्त्रीय प्रमाणों अथवा भाषा के माध्यम से आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। उसके लिए आत्म-चिन्तन और आत्मा में प्रवेश करने की आवश्यकता है। आत्मा की खोज आत्मा से ही होती है। प्रश्नोपनिषद् में कहा है—"तप, ब्रह्मचर्य और विद्या से आत्मा की खोज करो।" भगवान महावीर ने कहा—'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो।' आत्मा से परमात्मा की दिशा में प्रस्थान करने के लिए, आत्मा के प्रति श्रद्धा, आत्म-परिष्कार और आत्मा का अनुभव अपेक्षित है।

संदर्भ :

१ कठोपनिषद्।
२ [illegible]।
३ आयारो।
४ जैन-दर्शन : मनन और मीमांसा।
५ जैन तत्त्व-विद्या।

जैन-धर्म में कर्मवाद

भगवान् श्री महावीर ने कहा—"जो व्यक्ति सब भूतो को अपने समान समझता है, सब प्राणियो को समान दृष्टि से देखता है, आस्रवो का निरोध करता है और अपना निग्रह करता है, वह पाप कर्मों का बन्ध नहीं करता (दसवेआलिय ४/९)। इससे दो बातें फलित होती हैं—सब आत्माओ की समानता और कर्मों का बन्ध।

आत्म-समानता और आत्म-एकत्व के स्वर जैन आगमो मे प्रचुर मात्रा मे मुखरित हुए हैं। जैसे "तू जिसे मारना चाहता है, वह तू ही है। कोई प्राणी हीन नही है, अतिरिक्त नही है। न कोई छोटा है, न कोई बडा--इत्यादि।" (आयारो)

इसके विपरित हम यह भी प्रत्यक्ष देखते हैं कि सब जीव समान नही हैं। कोई एक इन्द्रिय वाला प्राणी है तो कोई पाच इन्द्रिय वाला। कोई समनस्क—सन्नी है तो कोई अमनस्क—असन्नी। एक बहुत विकसित है तो दूसरा कम विकसित। एक बुद्धिमान है तो दूसरा मूढ। एक सच्चरित्र है तो दूसरा दुश्चरित्र। एक स्वस्थ है तो दूसरा अस्वस्थ। एक सुन्दर, सुप्रतिष्ठित और यशस्वी है तो दूसरा कुरूप, तिरष्कृत तथा निन्दनीय। एक सामर्थ्यवान है तो दूसरा असमर्थ। यह असमानता क्यो? इसका समाधान दिया गया कि निश्चय नय से सब जीवन समान होते हुए भी व्यवहार नय से वे भिन्न भी हैं।

प्रत्येक आत्मा की समानता स्वभावगत है। स्वरूप की दृष्टि से, अस्तित्व की दष्टि से सव आत्माए समान हैं।

आत्माओ की विविधता का हेतु कर्म है। प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही वनता है। हीन कर्म प्राणी को हीन बनाता है। श्रेष्ठ कर्म प्राणी को श्रेष्ठ वनाता है।

भगवती सूत्र मे एक सवाद है—गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—"भते! यह विभक्ति कहा से हो रही है? यह भेद, विभाजन, अलगाव कहा से हो रहा है? भगवान् ने कहा—गौतम! यह सारी विभक्ति कर्म के द्वारा हो रही है। सारी भेद-रेखाए कर्म के द्वारा खीची जा रही है।"

वौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ "अभिधम्मकोश" मे लिखा है—"कर्मज लोकवैचित्र्य—लोक की विचित्रता कर्म के द्वारा होती है।"

प्रश्न होता है कि कर्म क्या है? वह आत्मा को प्रभावित कैसे करता

३. कर्म-परमाणु चतुस्पर्शी होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं।
४. कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही कर्म रूप मे परिणत हो सकते हैं। हर कोई पुद्गल कर्म नही बन सकता। कर्म अनन्त परमाणुओ के स्कध हैं। कर्म जीवात्मा के आवरण, परतन्त्रता और दुखो का हेतु है।

कर्म-परमाणु अपने आप प्राणी के साथ सवध स्थापित नही करते। जीव अपनी शुभ-अशुम प्रवृत्ति के द्वारा उन अनन्त प्रदेशी कर्म-पुद्गलो को आकर्षित करता है। अपने साथ सम्बन्ध स्थापित करता है और वह सवध बहुत गहरा हो जाता है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त-अनन्त कर्म-परमाणु-स्कन्ध जुड जाते हैं। परस्पर एकमेक हो जाते हैं। यही है कर्म-वध। यद्यपि कार्मण वर्गणा के पुद्गल पूरे लोकाकाश मे व्याप्त हैं, किन्तु आत्मा के साथ कर्म रूप मे वे ही वधते हैं जो आत्म-प्रदेशो के साथ एक क्षेत्रावगाढ होते हैं।

बन्धन की अपेक्षा आत्मा और कर्म अभिन्न हैं। एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा भिन्न हैं। जीव चेतन है, कर्म अचेतन है। जीव अमूर्त है, कर्म मूर्त है।

अमूर्त आत्मा को मूर्त कर्म-पुद्गल प्रभावित करते हैं। जैसे—वेडी से मनुष्य बन्धता है, शराब से पागल बनता है। क्लोरोफार्म से बेहोश हो जाता है, वैसे ही कर्मों के सयोग से जीवात्मा की इस प्रकार की दशाए होती हैं। बाहरी निमित्तो का प्रभाव अल्पकालीन होता है। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा विशेष सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कध हैं। इसलिए उनका जीवन पर गहरा और आतरिक प्रभाव पडता है।

बध के प्रकार :—

बन्ध के सामान्यत चार प्रकार बताए गए हैं—

प्रदेश बन्ध—आत्म-प्रदेशो के साथ कर्म-पुद्गलो का जुडना। यह एकीभाव की व्यवस्था है।

प्रकृति बन्ध -स्वभाव का निर्माण या निर्धारण करना कि अमुक कर्म-पुद्गल आत्मा के कौन-से गुण का आवारक, विकारक या विघातक बनेगा ? यह है स्वभाव व्यवस्था।

स्थिति बन्ध—कौन-सा कर्म कितने समय तक आत्मा के साथ रहेगा और कब अपना विपाक-फल देगा, यह है स्थिति का निर्धारण। अर्थात् काल-मर्यादा की व्यवस्था।

अनुभाग बन्ध—कर्म किस प्रकार का फल देगा ? आत्मा को मद रूप से प्रभावित करेगा या तीव रूप से, यह अनुभाग बध का काम है। यह है फलदान शक्ति की व्यवस्था।

होता है। शुभ नाम कर्म के उदय से व्यक्ति सुन्दर, आदेय-वचन, यशस्वी और आकर्षक व्यक्तित्व-सपन्न होता है। अशुभ नाम कर्म के उदय का परिणाम ठीक इसके विपरीत होता है।

जो कर्म-पुद्गल जाति, कुल, वल, श्रुत, ऐश्वर्य आदि की दृष्टि से व्यक्ति की विशिष्टता और हीनता के हेतु बनते हैं—वह गोत्र-कर्म है। यह भी दोनो प्रकार का है।

व्यक्ति की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता, सम्मान-असम्मान—ये सब नाम और गोत्र कर्म के कारण होते हैं। इनके क्षय से पूर्णता-अगुरुलघुता प्राप्त होती है। आत्मा अपने नैसर्गिक रूप मे स्थित होती है।

जो कर्म-पुद्गल अमुक समय तक अमुक प्रकार के जीवन के निमित्त बनते हैं वह आयुष्य कर्म है। शुभ और अशुभ आयुष्य सुखी और दुखी जीवन का निमित्त बनता है। इससे देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक-आयु प्राप्त होती है। आयुष्य कर्म के क्षय से आत्मा अमर और अजन्मा बनती है।

कर्म की अवस्थाएं

कर्म की मुख्यतया तीन अवस्थाए हैं—

१ बध्यमान—जीवात्मा के साथ कर्म-पुद्गलो का सम्बन्ध, सश्लेष होता है, वह बद्ध अवस्था है।

२ सत्ता—कर्म बन्ध होते ही उसका परिणाम चालू नही होता, कुछ समय के लिए उनका परिपाक होता है। यह परिपाक-काल "सत्ता" है। सत् अवस्था है।

३ उदीयमान—परिपाक के पश्चात् प्राणी को सुख-दुख रूप या आवरण रूप फल मिलता है। यह कर्म की उदीयमान (उदय) अवस्था है।

अन्य दर्शनो मे कर्म की क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाए मानी गई हैं, जो उक्त तीनो अवस्थाओ की समानार्थक हैं।

वास्तव मे "कर्मवाद" जैन-दर्शन का बहुत बडा मनोविज्ञान है। कर्म-शास्त्र के अध्ययन के बिना न मन का समग्रता से विश्लेषण हो सकता है, न व्यक्तित्व का। बहुत विशाल और सूक्ष्म है कर्म का जगत्। कर्म-परमाणुओ से हमारी असख्य दुनिया भर सकती है। उनके सामने हमारे स्थूल शरीर की रचना करने वाली छह सौ खरब कोशिकाए कुछ भी नही हैं। इस शरीर में प्रति सैकण्ड पाच करोड़ कोशिकाए तथा प्रति मिनट तीन अरब कोशिकाए उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती हैं। कितने रासायनिक परिवर्तन होते रहते हैं। यह स्थूल शरीर की बात है। हमारा कर्म शरीर बहुत सूक्ष्म है। सब कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतिया स्वत

करने वाला एक आतरिक नियम है। आतरिक व्यवस्था है। जो कर्मवाद को नही जानना, वह धर्म को भी नही जानता। जो चेनना और कर्म की व्याख्या नही कर सकता, वह धर्म की व्याख्या नही कर सकता। धर्म है अन्तर-जगत् मे प्रवेश। वहा जाने के लिए उन नियमो को भी जानना आवश्यक है। जो आत्मा को बाध रहा है, वह है कर्म। कर्म-बन्ध और उसके विपाक को समझने वाला व्यक्ति सहज ही अपने आपको कर्म-बन्धन के निमित्तो से बचा सकता है।

होता है। प्राचीन भारत मे यह "हाडी"—भोजन-पकाने के पात्र अर्थ मे प्रयुक्त होता था। जैसे—स्थाली पुलाक न्याय। स्थाली का ही अपभ्रश थाली है।

दक्षिण भारत मे सुहाग का प्रमुख चिह्न है थाली। "मागल्यम्-थाली" यानी पीले धागेवाली सुनहरी पैंडिल—जो विवाह-मडप मे पिता वधू के गले मे मगल-सूत्र की भाति पहनाता है।

हम जिस क्रिया का प्रयोजन समझते हैं, उसके सिवाय भी उस क्रिया के अगणित प्रयोजन हो सकते हैं। हमने जिस वस्तु को जिस रूप मे जाना, समझा है, उसके अतिरिक्त भी उसे समझने के अनेक कोण हो सकते हैं। हमारे ज्ञात अर्थ के सिवाय उसकी अनेक ज्ञेय पर्यायें हो सकती हैं। जिस घटना की हमे जो प्रतीति होती है, उसके सिवाय उसमे अनेक प्रतीतिया अतर्गभित हो सकती हैं। अनेकान्त दृष्टि से ही इन सबमे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। समाधान खोजा जा सकता है।

जैन-दर्शन के अनुसार ससार मे अनत जीव हैं। वे अनत स्वभाव के हैं। अनत वस्तुए हैं। उनके अनत पर्याय हैं, अनत परमाणु हैं और अनत परिणमन हैं।

अनत जीव, अनत दृश्य पदार्थ और अनन्त परिणमन—यही जागतिक सत्य है। सत्य का स्वरूप सापेक्ष है। अपेक्षा-दृष्टि से देखने पर भी गुण-धर्म सत्य है। निरपेक्ष कुछ भी नहीं है। इस सापेक्ष विचार-शैली का नाम ही अनेकान्त है।

भगवान् महावीर ने सत्य की उपलब्धि के लिए एक अलौकिक दर्शन प्रस्तुत किया है। उन्होने कहा—वस्तु का एक धर्म ही सत्य नही है, उसके सभी धर्म सत्य हैं। एक दृष्टिकोण से वस्तु का एक धर्म जितना सत्य है, दूसरी दृष्टि से उसका दूसरा धर्म भी उतना ही सत्य है। इस प्रकार अपेक्षा-भेद से यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तु अनत धर्मात्मक है।

भगवान् महावीर ने भारतीय दर्शन के मौलिक तत्त्वो—आत्मा, शरीर पदार्थ, पुद्गल, परमाणु, लोक, बधन और मुक्ति का प्रतिपादन अनेकान्त की शैली मे किया है। पदार्थ के विभिन्न गुण-धर्मों का विभिन्न दृष्टियो से विश्लेषण कर उन्होने विराट् सत्य की प्रस्तुति दी है।

जैन-दर्शन के अनुसार जीव पुद्गल आदि समस्त पदार्थों के स्वरूप-निर्णय के परिप्रेक्ष्य मे उसे कम-से-कम चार दृष्टियो से परखना नितान्त अपेक्षित है। वे दृष्टियां हैं—(१) द्रव्य-दृष्टि, (२) क्षेत्र-दृष्टि, (३) काल-दृष्टि (४) भाव-दृष्टि। यहा द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव को समझ लेना भी जरूरी है—

द्रव्य—गुण समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का अर्थ है वस्तु।

व्यवस्था कैसे चलेगी ? जीवन-क्रम कैसे चलेगा ? इसका उत्तर है कि अनेकात मे इस विरोध के परिहार का मार्ग भी उपलब्ध है। उसका एक सूत्र है—सर्वथा विरोध और सर्वथा अविरोध जैसा दुनिया मे कुछ भी नही है। जहा विरोध है वहा अविरोध भी है। विरोध और अविरोध को कभी कम नही किया जा सकता। यह विश्व सप्रतिपक्ष है। प्रतिपक्ष के बिना पक्ष का अस्तित्व सभव नही। हमारा जीवन द्वन्द्वात्मक है। सुख-दु ख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण, मान-अपमान—ये सब सापेक्ष हैं। इनको एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता, इनके विरोध-परिहार का उपाय है- सापेक्षता।

हमारे शरीर मे दो परस्पर विरोधी प्राण धाराए प्रवाहित हैं—नेगेटिव और पोजिटिव। चन्द्रनाडी और सूर्यनाडी। पर क्या ये सर्वथा विरोधी हैं ? सचाई यह है कि एक के बिना दूसरी का भी अस्तित्व सुरक्षित नही रहता। अकेली चन्द्रनाडी या अकेली सूर्यनाडी हमारे जीवन को सुरक्षित नही रख सकती। हमारे शरीर को सक्रिय नही रख सकती। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक क्रियाओ का सचालन नही कर सकती।

हमारे जीवन का एक आधार है प्राण वायु और अपान वायु। ये परस्पर विरोधी है फिर भी दोनो का सापेक्ष मूल्य है। जीवन के लिए दोनो की अनिवार्यता है।

हमारे शरीर मे अनेक प्रकार की ग्रन्थिया है। सबके अलग-अलग भाव हैं। अलग-अलग कार्य हैं फिर भी सब एक दूसरे के पूरक है। परस्पर सामजस्य है। जब तक सामजस्य पूर्वक ग्रन्थि-तन्त्र काम करता है, तब तक शारीरिक स्थिति ठीक रहती है। सामजस्य टूटा कि सब गडबडा जाएगा। सतुलन विरोधो के मध्य सेतु है। सतुलन का आधार है अनेकात दृष्टि। अनेकात सापेक्ष सत्यो की स्वीकृति है। अपेक्षा भेद से ही हम शाश्वत और सामयिक सत्य को अपनी-अपनी भूमिका मे स्वीकृति या अस्वीकृति देते हैं।

विरोधी युगलो मे सगति स्थापित करने का आधार है विवक्षा-भेद। जिस समय मे पदार्थ के जिस गुण-धर्म की विवक्षा होती है, वह प्रधान हो जाता है और शेष सारे धर्म गौण रूप से उस पदार्थ के अन्तर्हित हो जाते हैं। ऐसा किए बिना प्रत्येक पदार्थ हमारे लिए अनुपयोगी या अप्रासगिक हो जाता है।

गति की सामान्य प्रक्रिया है कि एक पैर आगे रहे और एक पैर पीछे रहे। यदि दोनो पैर आगे या बराबर रहने का आग्रह करे तो गतिक्रिया नही हो सकती। बिलौना करते समय मथनी की रस्सी को थामने वाले दोनो हाथ क्रमश आगे पीछे होते रहते हैं। तभी मथन होता है। नवनीत निकलता है। वस्तु के एक धर्म की प्रधानता और शेष समस्त धर्मों की अप्रधानता अनेकात का व्यावहारिक रूप है।

पर भी विचार कर लें।

अनेकान्त वस्तु का स्वभाव है। सर्वज्ञो के अनतज्ञान की प्रत्यक्ष अनुभूति है।

अनत धर्मात्मक वस्तु का कथन बिना दृष्टि-बिन्दुओ के सभव नही। वस्तु के अनत धर्मों के प्रतिपादन की क्षमता भी भाषा जगत् के किसी भी शब्द मे नही है। अत 'स्यात्' शब्द के माध्यम से सत्य को सापेक्ष प्रतिपादित करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है।

अनेकान्त सापेक्ष जीवन-शैली है और स्याद्वाद प्रतिपादन की पद्धति। अनेकात दर्शन है, उसका व्यक्त रूप स्याद्वाद है। वास्तव मे देखा जाए तो अनेकात और स्याद्वाद आपस मे गहरे जुडे हुए हैं। जुडवा बच्चो की तरह, एक दूसरे के पूरक।

अनेकात के बिना स्याद्वाद का जन्म नही, स्याद्वाद के बिना अनेकात हमारे लिये उपयोगी नही। अनेकात को उजागर करने वाला स्याद्वाद ही है।

अपेक्षा है अनेकातवाद और स्याद्वाद—इन दोनो का ही वर्तमान समस्याओ के परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन किया जाए और मानवीय व्यवहार के साथ इस महान् दर्शन को जोडकर जागतिक स्तर पर समन्वय और सह-अस्तित्व को प्रतिष्ठित किया जाए।

क्योकि उसमे कार्यशील पुद्‌गल परमाणु सपूर्णत नष्ट नही होते। दीपक के तेल और बाती जलते हैं, वे धूम तथा गैस मे परिणत हो जाते हैं, अत उनका स्वरूप परिवर्तन अवश्य होता है, पर विलयन नही।

आकाश, जो साधारणतया नित्य प्रतीत होता है, वह भी कथचित अनित्य भी है। उन्मुक्त आकाश जब घेरे मे बन्द हो जाता है तो उसकी अवस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही अनित्यता का ससूचक है। यह निश्चित है कि स्थायित्व के बिना परिवर्तन आधारशून्य है और परिवर्तन के बिना स्थायित्व मूल्यहीन। कोई भी पदार्थ स्थायित्व और परिवर्तन की रेखा का अतिक्रमण नही कर सकता। आम को निचोडकर रस बना लिया गया। हमारी आखो के सामने अब वह आम का फल नही है। रस, जो पहले दृष्टिगोचर नही था, हमारे सामने है, पर उसमे आम्रत्व वही है। उसे हम नारगी का रस नही कहेगे।

जहा तक चिन्तन और मान्यता का प्रश्न है, अनेकान्त दृष्टि हमारा पथ प्रशस्त कर देती है। पदार्थ अनन्त हैं और उन्हे जानने के लिए दृष्टिया भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्बल कि उसके द्वारा हम एक क्षण मे वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है-- एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्द चाहिए। और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिए। उनके लिए जीवन भी अनन्त चाहिए, पर यह सभव नही। अत हम इस निष्कर्ष तक पहुचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का सपूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। लेकिन जैन तीर्थंकरो ने भाषा के भडार को एक ऐसा रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभा-मडल से समूचा भाषा-भडार जगमगा उठा। वह शब्द रत्न है 'स्यात्'। यह इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड दिया जाए, उस वस्तु के समग्र रूप को अभिव्यक्त करने का अपना दायित्व वह बहुत ही जागरूकता से निभाता है। यह भाषा-जगत् का प्राण है। इसके अभाव मे भाषा अपने दायित्व का निर्वाह कर ही नही पाती। यह अखड सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। यह एक ऐसा दर्पण है, जिसमे वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। यह वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन करता हुआ भी उसके शेष अनन्त धर्मों को आखो से ओझल नही कर सकता।

आचार्यश्री तुलसी ने श्री "भिक्षु न्यायकर्णिका" मे स्याद्‌वाद की सरल और सुगम परिभाषा देते हुए लिखा है—

अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वाद ।

अनेक धर्मात्मक वस्तु का एक समय मे, एक धर्म की प्रधानता—

क्योकि उसमे कार्यशील पुद्गल परमाणु सपूर्णत नष्ट नही होते। दीपक के तेल और बाती जलते हैं, वे धूम तथा गैस मे परिणत हो जाते हैं, अत उनका स्वरूप परिवर्तन अवश्य होता है, पर विलयन नही।

आकाश, जो साधारणतया नित्य प्रतीत होता है, वह भी कथचित अनित्य भी है। उन्मुक्त आकाश जब घेरे मे बन्द हो जाता है तो उसकी अवस्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन ही अनित्यता का ससूचक है। यह निश्चित है कि स्थायित्व के बिना परिवर्तन आधारशून्य है और परिवर्तन के विना स्थायित्व मूल्यहीन। कोई भी पदार्थ स्थायित्व और परिवर्तन की रेखा का अतिक्रमण नही कर सकता। आम को निचोडकर रस वना लिया गया। हमारी आखो के सामने अब वह आम का फल नही है। रस, जो पहले दृष्टिगोचर नही था, हमारे सामने है, पर उसमे आम्रत्व वही है। उसे हम नारगी का रस नही कहेगे।

जहा तक चिन्तन और मान्यता का प्रश्न है, अनेकान्त दृष्टि हमारा पथ प्रशस्त कर देती है। पदार्थ अनन्त हैं और उन्हे जानने के लिए दृष्टिया भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्बल कि उसके द्वारा हम एक क्षण मे वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है—एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्द चाहिए। और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिए। उनके लिए जीवन भी अनन्त चाहिए, पर यह सभव नही। अत हम इस निष्कर्ष तक पहुचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का सपूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। लेकिन जैन तीर्थंकरो ने भाषा के भडार को एक ऐसा रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभा-मडल से समूचा भाषा-भडार जगमगा उठा। वह शब्द रत्न है 'स्यात्'। यह इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड दिया जाए, उस वस्तु के समग्र रूप को अभिव्यक्त करने का अपना दायित्व वह बहुत ही जागरूकता से निभाता है। यह भाषा-जगत् का प्राण है। इसके अभाव मे भाषा अपने दायित्व का निर्वाह कर ही नही पाती। यह अखड सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। यह एक ऐसा दर्पण है, जिसमे वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं। यह वस्तु के किसी एक धर्म का मुख्यतया प्रतिपादन करता हुआ भी उसके शेष अनन्त धर्मों को आखो मे ओझल नही कर सकता।

आचार्यश्री तुलसी ने श्री "भिक्षु न्यायकर्णिका" मे स्याद्वाद की सरल और सुगम परिभाषा देते हुए लिखा है—

अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वाद.।

अनेक धर्मात्मक वस्तु का एक समय मे, एक धर्म की प्रधानता—

विवक्षा और शेष धर्मों की अप्रधानता—अविवक्षा से प्रतिपादन करने की पद्धति अनेकान्तवाद है। 'स्यात्' शब्द के प्रयोग से हम इस प्रयत्न मे सफल हो सकते हैं, अत इसे स्याद्वाद भी कहते हैं।

स्यात् का अर्थ सशय या सभव नही। सशय अनिर्णायकता की स्थिति में होता है। वह अज्ञान है। उसकी भाषा बनती है—'यह अच्छा है या बुरा, कुछ नही कह सकते। इसके विपरीत स्याद्वाद निर्णायक ज्ञान है। उसकी भाषा है—यह अमुक दृष्टि से अच्छा ही है और अमुक दृष्टि से बुरा ही है। वस्तु सत् भी है और असत् भी है। अर्थात् वह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सत् है और दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से 'असत्' है। एक फूल है। उसमे अस्ति धर्म जितना सावकाश है, उतना ही नास्ति धर्म भी है। इसलिए प्रत्यक्ष दिखने वाले फूल के विषय मे भी हम निश्चित कह सकते हैं—यह फूल है भी और नही भी। सभवत एक बार यह हमे अटपटा-सा लगे, पर तभी तक, जब तक कि हम उसे विविध अपेक्षाओ के परिप्रेक्ष्य मे नही समझ लेते।

दृष्टियां	है	नही
द्रव्य दृष्टि	यह गुलाब का फूल है	कमल का फूल नही है
क्षेत्र दृष्टि	यह जयपुर का है	उदयपुर का नही है
काल दृष्टि	यह वसन्त ऋतु का है	ग्रीष्म का नही है
भाव दृष्टि	यह विकसित है	अविकसित नही है।

इस प्रकार एक ही वस्तु मे दार्शनिक दृष्टि से नित्य-अनित्य आदि तथा व्यावहारिक दृष्टि से छोटा-बडा, दूर-समीप, अच्छा-बुरा, खट्टा-मीठा, शीतल-उष्ण आदि अनन्त धर्मों की अवस्थिति निर्बाध है। यह 'स्यात्' शब्द परस्पर-विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन नही करता, अपितु हमे जो विरोध लगता है, उसका यह अपेक्षा भेद से निरसन करता है।

प्रत्येक पदार्थ के विविध रूप हैं। उसे एकरूप मानना चिंतन की जडता का प्रतीक है। भोजन की उपयोगिता को कौन नकार सकता है ? वह भूखे व्यक्ति के लिए परम रसायन, औषध तथा अमृत है। लेकिन वही अजीर्णग्रस्त व्यक्ति के लिए क्या जहर नही बन सकता ?

व्यायाम स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद हैं, परन्तु किन्ही परिस्थितियो मे वह अस्वास्थ्य को बढाने वाला भी हो जाता है।

हम इस सापेक्ष दृष्टि को दूसरे उदाहरण से और समझें। मान लें दो व्यक्तियो ने एक ही समय मे एक ही घडे का पानी पिया। एक को वह पानी बहुत ठडा लगा, पीकर तृप्त हो गया। दूसरे की प्यास नही बुझी। उसे वह पानी गर्म लगा। यह क्यो ? पानी समान होते हुए भी दो व्यक्तियों की प्रतीति और परिणाम मे इतना अन्तर ? इसका कारण यही हो सकता

है कि पहला व्यक्ति नल का गर्म पानी पीकर आया है, उसे घडे का प
ठडा लग रहा है और जो बर्फ खाकर आया है उसे यही पानी गर्म लग
है। यह है अवस्था-भेद से सवेदन की भिन्नता।

एक फूल है। कोई व्यक्ति उसके रूप पर निछावर हो जाता है
कोई मादकता भरी महक से उन्मत्त। चिन्ताओ मे डूबा किसी का मन विह
फूलो को देख प्रसन्नता से भर उठता है तो किसी की वासना उभर जाती
कुछ व्यक्ति फूलो की सुगधि और कोमल सस्पर्श के सुख-भोग मे लीन र
हैं, वहा कुछ समय-समय पर सरसाये-मुरझाये फूलो मे पौद्गलिक सुखो
अनित्यता का बोध कर विरक्त भी हो जाते हैं। यदि वस्तु एक धर्मात्मक
होती तो अलग-अलग परिस्थितियो मे उसका प्रभाव एक-सा ही होता। कि
नही होता।

हम विद्युत् के युग मे जी रहे हैं, घर-परिवारो मे बहुत-सी प्रवृत्ति
बिजली के आधार पर चलती हैं। बिजली के उपयोग हेतु तार फिट कि
जाते हैं। उनमे विद्युत् की धारा प्रवाहित होती है। उससे पखा चलता
बल्ब जलता है, भोजन पकता है, रेडियो बजता है, टी०वी० चलता
टेलीफोन पर बातचीत होती है, मकान वातानुकूलित बनता है। इस प्रक
अनेक रूपो मे मनुष्य विद्युत् शक्ति का उपयोग करता है। जैसा कि ह
जाना सभी तारो मे एक ही बिजली का प्रवाह है फिर भी पखे मे उस
चालक गुण, बल्ब मे प्रकाशक गुण, सिगडी मे दाहक गुण, रेडियो/टेलीफ
मे ध्वनि-सप्रेषक गुण क्रियाशील है। जो बटन दबाया जाता है, वही
प्रकट हो जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विद्युत् मे अनेक गुण-
विद्यमान हैं। यहा यह भी ज्ञातव्य है कि उसके अन्यान्य गुण विभिन्न निमि
पाकर ही उभरते हैं। बल्ब मे उसका प्रकाशक गुण ही कार्य करता है, न
दाहक गुण। पर इतने मात्र से हम उसके दाहक गुण को नकार नही सक
हा, प्रकाशक गुण के उभरते ही शेष धर्म अप्रधान बनकर उसका अनुग
करने लग जाते हैं। गति के लिए यह अनिवार्य भी है। एक पैर जब आ
बढता है तो दूसरा अपने आप पीछे हट जाता है। यह गति मे बाधा न
प्रेरणा है—यदि एक पैर पीछे हटने से इन्कार कर दे तो बडी मुश्किल
जाए।

इस प्रकार अनेकात और स्याद्वाद के माध्यम से हम पदार्थ का सम्य
बोध और सम्यक्-प्रतिपादन कर सकते हैं। इसकी उपादेयता केवल व
जगत् तक ही परिसीमित नही है। हमारे जीवन का प्रत्येक पहलू इ
सस्पृष्ट तथा उजागर है।

हमारा जीवन एकता और विविधता का योग है। मनुष्य-मनुष्य
है, यह समानता की अनुभूति समूची मानव-जाति को एकत्व के सूत्र मे पि

रखती है। सबकी रुचिया, अपेक्षाए जीने की पद्धतिया और अपेक्षा-पूर्ति के स्रोत हैं भिन्न, अत वह विविध रूपो मे विभक्त हो जाती है।

व्यक्ति का जिसके साथ अधिक लगाव या ममत्व होता है, उसे वह महत्त्व देता है। फलत विभिन्न वर्ग, जाति, भाषा, सम्प्रदाय आदि की रेखाए उभर आती हैं। महत्त्व देना बुरा नही, यदि उससे दूसरो का महत्त्व और हित खण्डित न हो। समस्या यही प्रसूत होती है कि व्यक्ति 'स्व' को जितना महत्त्व देता है, 'पर' को उतना ही नकारने लग जाता है। यही से मानवीय एकता खण्डित होने लगती है। सघर्ष के ज्वालामुखी फूट पडते हैं।

एक परिवार मे अनेक सदस्य होते हैं। उन सबके हित, स्वार्थ, रुचिया और योग्यताए भिन्न होती हैं। इस स्थिति मे किसी एक के हितो, योग्यताओ आदि को महत्त्व व सम्मान देने पर परस्पर टकराव होता है और अलगाव की दीवारें खिच जाती हैं। धीरे-धीरे वैमनस्य, घृणा और प्रतिहिंसा की भावनाए वलवती होती जाती हैं। सरस पारिवारिक जीवन मे विरसता का विष घुलने लग जाता है। इसके विपरीत यदि प्रत्येक सदस्य अपने हितों और भावनाओ को गौण कर दूसरे की भावनाओ और हितों को प्राथमिकता दे तो स्वय का हित विघटित कभी नही होता, वह अधिक सधता है और पारिवारिक जीवन मधुमय वन जाता है। निरपेक्ष व्यवहार जहा एकत्व में बिखराव पैदा करता है, वहा सापेक्ष व्यवहार विखरी हुई मणियो को सुन्दर माला का आकार प्रदान करता है। सापेक्ष दृष्टिकोण शान्त, सरस और सुखी जीवन का मूल मन्त्र है। दृष्टि की एकागिता आग्रह को जन्म देती है। आग्रह हिंसा है, जिसकी भूमिका मे वैमनस्य और दुर्भावनाओ के वीज अकुरित होते हैं, जो एक दिन विष-वृक्ष के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होते हैं।

वर्तमान के सदर्भ मे भी स्याद्वाद की अर्हता निर्विवाद है। इसमे वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सभी समस्याओं का सुन्दर समाधान सन्निहित है।

शोषणहीन समाज की सरचना, नि शस्त्रीकरण, विश्वमैत्री, सह-अस्तित्व आदि दृष्टियो और सिद्धातो का पल्लवन-उन्नयन स्याद्वाद के प्रतिष्ठान से ही सभव है।

जैन दर्शन की यह सुलझी हुई मान्यता समूचे विश्व के लिए एक वैज्ञानिक देन है।

जैन धर्म में जातिवाद का आधार

किसी अमीर व्यक्ति का अह जागा। वैभव के प्रदर्शन की वृत्ति पनपी। मा की पूजा का विराट् आयोजन रखा गया। सोने की चौकी बनवाई। आयोजन के पश्चात् वह स्वर्ण-निर्मित भारी चौकी ब्राह्मण को दक्षिणा मे देते हुए गर्व के साथ बोला—"पडितजी! आज तक कोई इतना बडा दानी आपने देखा क्या?" जब अह से अह टकराता है तो वह अधिक शक्तिशाली हो जाता है। एक रुपये के साथ सोने की चौकी लौटाते हुए पडितजी ने कहा—"सेठजी! आज तक कोई इतना बडा त्यागी देखा क्या?" सेठजी का अह चूर-चूर हो गया।

जातिवाद की मान्यता के पीछे भी ऐसी ही गर्वोक्तिया परस्पर टकराती हैं और सघर्ष की चिनगारिया उछलती हैं।

जातिवाद का प्रश्न नया नही, हजारो वर्ष पुराना है। महावीर और बुद्ध के समय इसकी चर्चा ने उग्र रूप धारण कर लिया था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक— सभी क्षेत्रो मे जातिवाद का दैत्य प्रवेश पा चुका था।

जातिवाद के मूल मे दो प्रकार की विचार-धाराए रही हैं। एक ब्राह्मण-परम्परा की और दूसरी श्रमण-परम्परा की। एक "जाति" को तात्विक मानती है और दूसरी अतात्विक।

ब्राह्मण-परम्परा ने जन्मना जाति का सिद्धात स्थापित कर उसे तात्विक माना, ईश्वर-कृत माना। श्रमण-परम्परा ने कर्मणा जाति का सिद्धात स्थापित कर उसे अतात्विक माना। समाज-व्यवस्था की सुविधा के लिए मनुष्य द्वारा किया गया वर्गीकरण माना।

ब्राह्मण-परम्परा ने कहा—ब्रह्मा के मुख से जन्मने वाले ब्राह्मण, भुजा से जन्मने वाले क्षत्रिय, पेट से जन्मने वाले वैश्य और पैरो से जन्मने वाले शूद्र हैं। जन्म-स्थान की भिन्नता के कारण इन वर्गों की श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता घोषित की गई। ब्राह्मणो को सर्वोत्कृष्ट और पूज्य माना गया। अन्त्यजों को निकृष्टतम और घृणित माना गया।

श्रमण-परम्परा ने इस मान्यता का विरोध किया और यह पक्ष स्थापित किया कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कर्म (आचरण) से होते है। जाति के आधार पर किसी को हीन मानना अपराध है। मानवता का अपमान है। जातिवाद के विरुद्ध इस महान् क्राति के सूत्रधार थे—भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध। भगवान् महावीर ने कहा—हीन जाति मे उत्पन्न

व्यक्ति भी तप साधना द्वारा श्रेष्ठता और पूज्यता को प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत उच्च कुल मे उत्पन्न होकर भी चरित्र-भ्रष्ट व्यक्ति उच्चता हासिल नही कर सकता। इसलिए जाति की दृष्टि से न कोई हीन है, न कोई अतिरिक्त है। न ऊचा है, न नीचा है।

प्रश्न होता है—हिन्दुस्तान मे जाति का विभाजन कब और क्यों हुआ ? तथा जातिवाद क्यो पनपा ?

जैन परम्परा के अनुसार पहले मनुष्य जाति एक थी। युग के आरभ मे जातियो की व्यवस्था नही थी। वह यौगलिक युग था। जनसख्या सीमित थी। जो भाई-बहन के रूप मे उत्पन्न होते पति-पत्नी बनकर एक साथ रहते और एक साथ ही मरते। उन्हें युगलचारी या यौगलिक कहा जाता था। यौगलिक युग पलटा। कर्म-युग का प्रवर्तन हुआ। भगवान् ऋषभ राजा बने। उन्होने मनुष्य-समाज को कुछ वर्गों मे विभाजित कर दिया। मूल बात यह थी कि ऋषभ ने राज्य-सचालन के लिए कुछ व्यवस्थाए दी थी। जहा व्यवस्था होती है, वहा विभाग आवश्यक होते हैं। विभाग का आधार है—समाज की विभिन्न अपेक्षाए। उन्होने समाज को तीन विभागो मे बांटा—१. पराक्रम २ कौशल और ३ उत्पादन। इन तीनो के प्रतीक बने—असि, मसि और कृषि शब्द।

जब जनसख्या बढी, कल्पवृक्ष घटे और लोगो की जरूरत बढ़ी तो ऋषभ ने निर्देश दिया—उत्पादन बढाओ और समाज की जरूरतों को पूरा करो। कृषि का विकास हुआ। कृषक-वर्ग उभरा।

उत्पादन के विनिमय-वितरण और निर्यात की व्यवस्था के लिए ऋषभ ने एक विभाग स्थापित किया। उसके आधार पर व्यवसाय—वाणिज्य-कौशल का विकास हुआ। वस्तु-विनिमय और वितरण मे दोनो पक्षो को न्याय मिले, लाभ मिले, सबकी आवश्यकताओ की पूर्ति उचित विनिमय के आधार पर हो, इस दृष्टि से व्यवस्थित हिसाब-किताब रखना भी आवश्यक समझा गया। उसका माध्यम था—लेखन। लिखने का प्रतीक शब्द बन गया। मसि—स्याही।

जहा विनिमय की बात होती है वहा सघर्ष की सभावनाए भी रहती हैं। हितो मे टकराव और आपाधापी की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऋषभ ने सबके हितो के सरक्षण हेतु रक्षा-व्यवस्था दी। उसका प्रतीक बना असि शब्द। असि यानि तलवार हथियार का प्रतीक बन गया।

समाज की रक्षा वही कर सकता है जो पराक्रमी हो।

वह पराक्रमी वर्ग क्षत्रिय कहलाया। इस प्रकार भगवान् ऋषभ ने तत्कालीन सामाजिक अपेक्षाओ के आधार पर समाज की सुविधा, विकास और सुरक्षा की दृष्टि से यह त्रिवेणी-व्यवस्था दी।

वैदिक परम्परा मे निर्धारित चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का मूल आधार भी बुद्धि, पराक्रम, विनिमय और सेवा ही रहा है। ब्रह्मा के मुख भुजा उदर और पैरो से उत्पन्न हाने की जो बात कही गई है वह भी प्रतीकात्मक ही है। मुख बुद्धि का, भुजा पराक्रम का, पेट व्यवसाय-विनिमय का, पैर गतिशीलता—सेवा का प्रतीक है।

जहा समाज अथवा राज्य-सचालन का प्रश्न होता है, वहा व्यवस्थाए आवश्यक हैं। जहा व्यवस्था है, वहा वर्गीकरण भी जरूरी है।

समाज के लिए बुद्धि, पराक्रम, व्यवसाय-कोशल और सेवा मे से किसी एक तत्त्व को भी उपेक्षित नही किया जा सकता। समस्या तब उभरती है, जब किसी भी प्रवृत्ति का उद्देश्य और मूल रूप ओझल हो जाता है तथा दूसरा पक्ष उभर कर सामने आ जाता है।

काण्ट ने सामाजिकता की दृष्टि से व्यक्तियो को तीन वर्गों मे बाटा है—

१ बुद्धि प्रधान

२ साहस प्रधान और

३ वासना प्रधान—सब की वासना—इच्छा की आपूर्ति करने वाला वर्ग।

यह वर्गीकरण जैन चिन्तन के अधिक निकट है, अनुकूल है। सामान्यत हर व्यक्ति मे तीनो शक्तिया होती हैं। किन्तु सब मे सब प्रकार की शक्तियो का विकास समान नही होता। जिसमे जिस शक्ति का विशिष्ट विकास होता है वह व्यक्ति उस वर्ग के साथ जुड जाता है। पर एक वर्ग के व्यक्तियो मे अमुक शक्ति का विकास होता ही है, यह जरूरी नही है।

ब्राह्मणो मे भी अपढ—अविद्यावान हो सकते हैं। क्षत्रिय जाति में भी कोई भीरू हो सकता है। वैश्य परिवार मे जन्म लेने वालो मे भी सबको व्यावसायिक-बुद्धि, वाणिज्य-कोशल उपलब्ध हो, यह आवश्यक नही है। शिल्प और सेवा-कार्य भी किसी की नियति नही हो सकती। इसीलिए जैन-चिन्तको ने कहा—जाति तात्त्विक नही है। मौलिक नही है। जाति-व्यवस्था मनुष्य द्वारा कृत है। समाज की उपयोगिता है। वह व्यक्ति की कर्मजा शक्ति के साथ जुडी हुई है। काय-परिवर्तन के साथ ही जातिगत मान्यता परिवर्तित हो जाती है।

इस प्रसग मे आचार्य कृपलानी का उदाहरण बहुत ही प्रेरक हो सकता है। एक बार वे ट्रेन से यात्रा कर रहे थे। बगल की सीट पर बैठ सज्जन ने पूछा—"आप किस कौम के हैं?" कृपलानी मौन रहे। दूसरी-तीसरी बार पूछने पर बोले—"भाई! मैं किसी एक कौम का होऊ तो बताऊ। देखो; सुबह-सुबह अपनी साफ-सफाई करता हू, इसलिए हरिजन हू।

मध्याह्न मे खरीददारी करता हू अथवा सहयोग का विनिमय करता हू, अत वैश्य हू। मेरी वृत्ति है अध्यापन, इसलिए ब्राह्मण हू तथा अपनी और अपने परिवार की रक्षा का दायित्व निभाता हू, इसलिए मैं क्षत्रिय भी हू।

यही बात भगवान् महावीर ने कही थी —

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है। इसलिए जाति को लेकर किसी से घृणा मत करो।

जाति का वर्गीकरण कर्म के आधार पर होता है इस तथ्य को समझाते हुए उन्होने कहा—समाज व्यक्तियो से बनता है। व्यक्तियों में शक्ति की भिन्नता और तरतमता होती है। उसी के अनुरूप कर्म होता है। कर्म जाति का आधारभूत तत्त्व है।

भगवान् महावीर और बुद्ध ने जातिवाद के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन चलाया। उन्होने कहा—जाति का गर्व मत करो। जाति का अह नरक का कारण है। इतने प्रयत्नो के बावजूद भी हमारे देश मे जातिवाद का जुड़ाव मानव-मन के साथ गहरा हो गया है। हीन कुल मे उत्पन्न होने वाले व्यक्ति को सामान्य मानवीय अधिकारो से वचित कर दिया गया। उसके लिए विकास के सारे द्वार बन्द हो गए। धर्म के लोगो ने जातिवाद की आड में आपसी वैमनस्य को बढावा देने मे प्रमुख भूमिका निभाई। उस समय यह तत्त्व भुला दिया जाता है कि जाति व्यवहाराश्रित है और धर्म आत्माश्रित। आत्म-जगत् मे प्रत्येक प्राणी समान है। वहा जातियो के विभाग इन्द्रियो के आधार पर हैं। धर्म के आधार पर मानव का बटवारा करना धर्म-विरुद्ध है। धर्म के उपदेष्टा ऋषियो ने कहा—प्रत्येक प्राणी को अपने जैसा समझो। उनकी दृष्टि मे भाषा, वर्ण, धर्म, जाति आदि को लेकर भेद-भावना को प्रश्रय देना अनुचित है। जातियो की कल्पना केवल कर्म की दृष्टि से की गयी थी। आचार, रीति-रिवाज तथा भौगोलिक दृष्टि से भिन्न होते हुए भी "मनुष्य जाति एक है" ऐसा कह कर सब मे भ्रातृत्व के बीज बोये गये थे। फिर भी मनुष्य इस एकता को भूलकर अनेकता मे विभक्त हो गया। वह जाति के मद मे एक को ऊचा और एक को नीचा समझने लगा। फलस्वरूप समाज मे घृणा का वातावरण निर्मित हो गया।

श्रमण-परम्परा के विद्वान् आचार्य धर्म-कीर्ति ने जडता के पाच लक्षण बताए हैं, उनमे एक है जाति का अहकार। अह उन्माद पैदा करता है। उन्माद की स्थिति मे इतनी मोटी बात भी समझ मे नही आती कि आदमी आदमी को नीचा न समझे, उसे भ्रातृत्व की दृष्टि से देखे, भ्रातृत्व-भावना का विकास करे।

वास्तव मे जाति आदि को लेकर किसी को ऊचा-नीचा समझना

कोई बौद्धिक बात नही है। यह मात्र मान्यता का प्रश्न है। किसी भी मान्यता के पीछे व्यक्ति की वृत्तिया काम करती हैं। सम्प्रदाय, सगठन, सस्थान आदि की अपनी-अपनी मान्यताए होती हैं। प्रत्येक मान्यता के पीछे भिन्न-भिन्न वृत्तिया रहती हैं। जैन मनोविज्ञान की दृष्टि से जातिवाद और सम्प्रदायवाद के पीछे मूल वृत्ति है राग। जहा राग होता है, वहा द्वेष निश्चित होता है। अपनी जाति के प्रति राग व्यक्ति मे अहभाव भरता है और अन्य जाति के प्रति द्वेष तथा घृणा का वातावरण निर्मित करता है। राग और द्वेष को प्रकट होने के लिए किसी-न-किसी माध्यम की जरूरत रहती है। भारतीय समाज मे इस वृत्ति को पनपने का मौका मिला जातिगत भेद-भाव के माध्यम से। पश्चिमी देशो मे जाति की समस्या नहीं है तो वहा रग-भेद की समस्या बहुत विकराल है। रग के आधार पर काले और गोरे—ये दो वर्ग बन गये और सघर्ष का अन्तहीन सिलसिला चालू हो गया। इस समस्या ने राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति तथा शिक्षानीति को प्रभावित किया है। रग के आधार पर मनुष्यजाति को विभक्त कर आपसी विद्वेष और वैमनस्य को बढ़ावा दिया है। सचाई यह है कि किसी को हीन मान कर अपनी उच्चता कभी स्थापित नही की जा सकती।

वर्तमान की चितन-धारा के अनुसार जातिवाद का समर्थन करना न बुद्धिमानी है, न तर्क-सगत है, न कानून-सम्मत है और न न्याय-सगत। जाति के आधार पर किसी को हीन मानना, अछूत मानना, मानवाधिकार का स्पष्ट हनन है।

जाति को अतात्विक मानने वाले दर्शनो ने जैसे 'मनुष्य-जाति एक है" का घोष दिया, वैसे जाति को तात्त्विक—मौलिक मानने वाले ईश्वरवादी दर्शनो ने भी उत्तरकाल मे यह घोषणा की कि मनुष्य अच्छा बुरा कर्मों से होता है। जाति से नही। फिर सिद्धातत जो स्वीकार किया गया वह व्यवहार मे नही आया। व्यावहारिक धरातल पर जातिवाद का विष-वृक्ष वैसे ही फलता-फूलता रहा। भारतीय इतिहास के पृष्ठ ऐसी घटनाओ से भरे पडे हैं, जहा जातीयता के नाम पर दानवता को खुलकर खेलने का अवसर मिला। इन्सान के द्वारा इन्सान के साथ क्रूरता और निर्दयता पूर्ण व्यवहार हुआ।

जातीयता के अभिशाप से पीडित न जाने कितने सूतपुत्र कर्ण और भीलपुत्र एकलव्य आज भी करुण पुकार कर रहे हैं कि—

कौन जन्म लेता किस कुल मे आकस्मिक ही है यह बात
छोटे कुल पर हाय! यहा होते रहते कितने आघात।
हाय जाति छोटी है तो फिर सभी हमारे गुण छोटे।
जाति बडी तो बडे बनें, फिर लाख रहे चाहे खोटे।

आज जहा सहअस्तित्व, समन्वय और समानता के सिद्धात राष्ट्रीय

और अन्तर्राष्ट्रीय चेतना को प्रभावित कर रहे हैं। विश्व-मानव की सुखद परिकल्पना कर मनुष्य-मनुष्य के बीच एकता का सेतु स्थापित कर रही है, वहा लगता है साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता आदि दूरी के विन्ध्याचल बन कर मनुष्य-मनुष्य के बीच खडे हो गये हैं। जातीयता का यक्ष मानव-मन की धरती पर घृणा के विष-बीज बो रहा है। लगता है; सैद्धातिक स्तर पर जाति को अतात्विक मानने वाला जैन-समाज भी जातिवाद की लोह-शृखला से मुक्त नही है। अपेक्षा है वर्तमान के सदर्भ मे जैन-समाज अपने पवित्र सिद्धातो की स्मृति करता हुआ अपने व्यवहारो को परिवर्तित करे।

अणुव्रत अनुशास्ता सत श्री तुलसी "अणुव्रत" के माध्यम से इस दिशा मे वर्षो से भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। अणुव्रत विचार दर्शन ने समाज की धरती पर एकता और समानता की धाराए प्रवाहित की हैं। जातिवाद के आधार पर पनपी ऊच-नीच और छूआ-छूत की धारणाओ को तोडा है। पर आने वाले युग की चुनौतियो को देखते हुए जैन समाज को इस दिशा मे काफी प्रयत्न करना है।

अणुव्रत के एक व्रत का भी यदि सकल्पित होकर अनुशीलन किया जाए तो जैन-समाज का यह क्रातिकारी कदम समग्र मनुष्य जाति के लिए वरदायी सिद्ध हो सकता है। वह व्रत है—

'मैं जाति के आधार पर किसी को अस्पृश्य नही मानूगा।
मैं जाति के आधार किसी को ऊच-नीच नही मानूगा,
घृणा नही फैलाऊगा।

रत्नत्रयी : जैन साधना का आधार

दुनिया मे सर्वोत्कृष्ट वस्तु को रत्न कहा जाता है। पौराणिक युग मे देवो और दानवो ने मिलकर समुद्र-मथन किया। चौदह रत्न निकले। उनसे देवो और दानवो को सतुष्ट किया गया।

अध्यात्म के यात्रियो ने अर्हत्-वाणी के आलोक मे आत्म-मथन किया, उससे उन्हे तीन रत्न मिले। उन तीन रत्नो के आधार पर प्रकाश, आनन्द तथा शक्ति के स्रोतो की खोज की।

नीतिकारो ने लोक भाषा मे कहा—"पृथ्वी पर तीन ही रत्न —हैं अन्न, जल और सुभाषित। वे मूढ हैं, जो पत्थर के टुकडो को रत्न कहते हैं।"

भगवान् महावीर ने कहा—"धर्म के क्षेत्र मे तीन ही रत्न हैं—सम्यग् ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र। वे मूढ हैं, जो विभिन्न प्रकार के क्रिया-काडो मे दु ख-मुक्ति के दर्शन करते हैं।"

पहले प्रकार के रत्न लौकिक हैं और दूसरे प्रकार के लोकोत्तर। लौकिक बाह्य समृद्धि के सूचक हैं। लोकोत्तर रत्न आतरिक समृद्धि के प्रतीक हैं।

धर्म के क्षेत्र मे दो धाराए प्रवाहित हैं—प्रवर्तक धर्म और निवर्तक धर्म। यज्ञ-याग पूजा-पाठ आदि कर्म-काडो को प्रमुखता देने वाले धार्मिक प्रवृत्तिमार्गी कहलाते हैं। बाहरी क्रियाकाडो मे न उलझकर मात्र आत्मोपलब्धि या आत्मशुद्धि के लिए प्रयत्नशील धार्मिक निवृत्तिमार्गी कहलाते हैं।

वैदिक धर्म प्रवर्तक धर्म है। उसका लक्ष्य है—स्वर्ग-प्राप्ति। "स्व. कामो यजेत"—स्वर्ग प्राप्ति की कामना से यज्ञ करो। जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। उसका लक्ष्य है—निर्वाण। निर्वाणवादी धारा के पुरस्कर्ता थे—भगवान् महावीर—"णिव्वाणवादी इह णायपुत्ते।"

निर्वाण का अर्थ है परम शान्ति—मोक्ष की प्राप्ति। उसके उपाय हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र। ये मुक्ति के सर्वोत्तम उपाय हैं, इसलिए रत्न कहलाते हैं। इनका समन्वित नाम है—रत्नत्रयी। जैन-धर्म मे रत्नत्रयी का बहुत बडा स्थान है। क्योकि जैन-धर्म लोकोत्तर धर्म है। जैन-दर्शन मोक्ष-दर्शन है। मोक्ष-प्राप्ति का पहला सूत्र है—सम्यक् दर्शन, दूसरा सूत्र है सम्यक् ज्ञान और तीसरा सूत्र है सम्यग्-चारित्र। यह त्रिपदी ही मोक्ष-पदी है।

आचार्य उमास्वाति लिखते हैं—

"सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्ग ।" वस्तुत रत्नत्रयी का समवाय ही मोक्ष-मार्ग है। तीनो मिलकर ही मुक्ति के हेतु बनते हैं। अकेले में मोक्ष-मार्ग बनने की क्षमता नही है। जब ज्ञान, दर्शन और चारित्र एक दूसरे से निरपेक्ष होते हैं, आपस मे बट जाते हैं, तो न ज्ञान सम्यक् रहता है, न दर्शन सम्यक् रहता है और न चारित्र सम्यक् रहता है। मिथ्या ज्ञान, दर्शन और आचरण व्यक्ति को मूढ बनाते हैं। मोक्ष की आराधना मे तीनों का सम्यक् होना और परस्पर सापेक्ष होना अनिवार्य है। कोरा ज्ञान या कोरा आचार मुक्ति का हेतु नही बन सकता। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इस त्रिवेणी मे डुबकी लगाने से ही शुद्धि और सिद्धि उपलब्ध होती है।

जैन-धर्म आतरिक शुद्धि पर बल देता है। शुद्धि का घटक तत्त्व है—अन्तर्यात्रा। अतर्यात्रा का अर्थ है शुद्ध चैतन्य का अनुभव करना। चैतन्य का स्वरूप है—ज्ञान, दर्शन, आनन्द और शक्ति। इनकी आराधना ही चैतन्य की आराधना है। यही धर्म है।

इस रत्नत्रयी मे दर्शन का स्थान पहला है। यह मोक्ष-साधना का महत्त्वपूर्ण आधार है। आधार सुदृढ होता है तो भवन-निर्माण सहज और स्थायी होता है। दर्शन के साथ ही ज्ञान घटित होता है और उससे चारित्र (स्व मे अवस्थित होने का भाव) जागृत होता है। सक्षेप मे यही है जैन साधना पद्धति। उसका केन्द्र है—दर्शन और परिधि है—पवित्र आचरण।

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात ने धर्म की परिभाषा की—"ज्ञान ही धर्म है। ज्ञान से भिन्न कोई धर्म नही है।"

तीर्थंकर महावीर ने कहा—"पढम नाण तओ दया।" धर्म मे पहला स्थान है ज्ञान और श्रद्धा का तथा दूसरा स्थान है अहिसा रूप आचार का। सुकरात ने कहा—वह ज्ञान वास्तव मे ज्ञान नही होता, जिसका आचरण न हो। आचरण-शून्य ज्ञान अयथार्थ है, मिथ्या धारणा है, भ्राति है। महावीर ने कहा—"आहसु विज्जा चरण पमोक्खो"—ज्ञान और आचरण के योग से ही मोक्ष सभव है।

सुकरात ने कहा—ज्ञान यदि यथार्थ है, तो उसका आचरण अवश्य होगा। यथार्थ ज्ञान और आचरण को अलग नही किया जा सकता।

इस सदर्भ मे महावीर का एक मूल्यवान् शब्द है—परिज्ञा। उसकी समग्रता है—ज्ञ-परिज्ञा—जानना और प्रत्याख्यान परिज्ञा—असद् को छोडना। इन दोनो का योग ही मोक्ष-मार्ग की परिपूर्णता है।

सम्यक्-दर्शन

इसका अर्थ है—यथार्थ दृष्टिकोण। दर्शन मोह के विलय से दर्शन

चेतना जागती है। वस्तु को यथार्थ दृष्टि से देखने-परखने की शक्ति विकसित होती है। चेतन-अचेतन, हेय-उपादेय, सत्य-असत्य तथा करणीय-अकरणीय का स्पष्ट बोध होने लगता है। इसी का नाम है—सम्यग्-दर्शन।

सम्यक् दर्शन की व्यावहारिक परिभाषा है—यथार्थदृष्टि सम्यग् दर्शनम्—इसका तात्पर्य है—तात्त्विक तथ्यो और नौ तत्त्वो पर श्रद्धा होना। निश्चय की भाषा मे सम्यग् दर्शन का अर्थ है—आत्मा का निश्चय होना। "दर्शन निश्चय पुसि" जो आत्मदर्शी होता है वह सम्यग्दर्शी होता है और जो सम्यग्दर्शी होता है वह आत्मदर्शी होता है।

कुछ व्यक्ति धर्म के प्रति मूढ होते है, कुछ ध्येय के प्रति मूढ होते हैं तो कुछ आराध्य के प्रति —भगवान के प्रति मूढ होते हैं। दृष्टि-सम्पन्नता मे सभी प्रकार की मूढताए समाप्त हो जाती हैं, मूर्च्छा का वलय टूट जाता है।

सम्यक् द्रष्टा का ध्येय होता है—आत्म-साक्षात्कार। उसका धर्म होता है—आत्म-रमण और उसका आराध्य या भगवान होता है—वीतराग आत्मा।

सम्यक् दृष्टि के जागरण की पहचान है—

- शम—अन्तर आवेगो की शान्ति
- सवेग—मुमुक्षा
- निर्वेद—अनासक्ति
- अनुकम्पा—करुणा
- आस्तिक्य—सत्यनिष्ठा।

रत्नत्रयी मे सम्यक् दर्शन का स्थान पहला है, क्योकि सम्यक् दर्शन के बिना ज्ञान सम्यक् नही होता। जहा दर्शन मिथ्या है वहा ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। जहा दर्शन सम्यक् है वहा ज्ञान भी सम्यक् है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है।

"सम्यक् श्रद्धा भवेत्तत्र सम्यग् ज्ञान प्रजायते।
सम्यक् चारित्र-सप्राप्तेर्योग्यता तत्र जायते॥" (संबोधि १४/८)

दर्शन-विहीन व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध नही होता। ज्ञान के बिना चारित्र-गुण प्रकट नही होते। चारित्र के बिना निर्वाण नही होता।

सम्यक्-ज्ञान

"यथार्थबोध सम्यग्-ज्ञानम्॥"

यथार्थ बोध को सम्यक् ज्ञान कहते हैं। ज्ञान का काम है जानना। पर ज्ञान का उद्देश्य मात्र पदार्थों को जानना ही नही है। उसका मूल उद्देश्य है स्वय को जानना। भ० महावीर ने कहा—

"सपिक्खए अप्पगमप्पएण।" आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। महात्मा बुद्ध ने कहा—"अप्पदीवोभव"—अपने दीप स्वय बनो। सुकरात ने कहा—'नो दी सेल्फ'—अपने आप को जानो। निष्कर्ष की भाषा मे स्वय का वोध—"मैं कौन हू"—यह ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। जिसे स्वय का यथार्थ वोध हो जाता है, वह वस्तु जगत् को भी सही-सही जानने-समझने लगता है। सम्यक् ज्ञान का फलित है—पदार्थ के प्रति भी यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण। स्वय के वोध के अभाव मे जागतिक ज्ञान भी मिथ्या है, व्यर्थ है।

"जब जान्यो निजरूप को, तब सब जान्यो लोक।
नहीं जान्यो निजरूप को, तब सब जान्यो फोक।"

ज्ञान जड और चेतन का विभाजक तत्त्व है। प्रत्येक प्राणी में ज्ञान की मात्रा का न्यूनतम विकास अवश्य होता है। इसके विना जड और चेतन मे कोई अन्तर नही रहता। ज्ञान की न्यूनाधिकता क्षयोपशम सापेक्ष है। ज्ञान और दर्शन के आवारक कर्मों के सम्पूर्ण विलय से अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की अखड लौ प्रज्वलित हो उठती है।

सम्यक्-चारित्र

"महाव्रतादीनामाचरण सम्यक् चारित्रम्।"

महाव्रत आदि का आचरण करना सम्यक् चारित्र है। नाणस्स सारो आयारो—ज्ञान का सार आचार है। चारित्र और आचार—इन दोनो का अर्थ एक ही है। सम्यक् चारित्र का एक अर्थ है—पवित्र आचरण। दूसरा अर्थ है—चय रित्ती करण चारित्रम्—सचित सस्कारो के रेचन का नाम चारित्र है।

निश्चय नय के आधार पर चारित्र की परिभाषा है—"स्थितिरथैव चारित्रम्"—आत्मा मे स्थित अवस्थित होना चारित्र है। महाव्रत, अणुव्रत, असत्प्रवृत्ति का निरोध—ये सब चारित्र के ही अग हैं।

ज्ञान की आराधना से अज्ञान क्षीण होता है। दर्शन की आराधना से आस्था का निर्माण होता है, जन्म-परम्परा का अत होता है, मोक्ष-मार्ग प्रशस्त होता है। चारित्र की आराधना से स्थिरता उपलब्ध होती है, कर्मो का निरोध होता है स्वनियन्त्रण की क्षमता जागती है। इसकी परिपूर्ण साधना से परमात्मतत्त्व प्रकट होता है।

इस त्रयी की आराधना ही आत्मा की आराधना है। यही धर्म है। जितने भी अर्हत्, बुद्ध और परमप्रज्ञा-प्राप्त साधक हुए हैं, उन्होंने धर्म-चिन्तन मे किसी न किसी रूप से इस त्रयी को स्वीकृति दी है। हिन्दू धर्म मे इसे ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्म योग के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त है। इन्ही तत्त्वो को इस्लाम धर्म मे "मारफत, तरीकत और शरीअत" कहा गया है।

महात्मा बुद्ध इन्हे—सम्मादिट्ठी, सम्मासकप्पो और सम्मावायामो कहते हैं तो पारसी धर्म भी हुमता (पवित्र विचार), हुक्का (पवित्र वाणी) और हूर्षता (पवित्र कर्म) पर बल देता है।

भगवान् महावीर ने कहा—जब दृष्टि सम्यक् होती है, ज्ञान सही होता है और आचरण पवित्र होता है तो धर्म बढ़ता है। अन्यथा धर्म घटता है।

आनन्द ने तथागत बुद्ध से पूछा—भते! आपके निर्वाण के बाद आपके शरीर का क्या किया जाए? बुद्ध ने कहा—आनन्द! इसमें सिर मत खपाओ। मैंने जो साधना-धर्म दिया है, उसका अभ्यास करो। मेरे इस शरीर को मत देखो। धर्म शरीर को देखो। जो मेरे धर्म शरीर को देखता है, वह मुझे देखता है, और जो मुझे देखता है वह मेरे धर्म शरीर को देखता है।

भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—"गौतम! सत्य की शोध मे प्रमाद मत कर। मेरे से स्नेह मत कर। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना कर मुक्त बन।"

यह रत्नत्रयी जितनी पुष्ट—सशक्त होगी, धर्म उतना ही शक्तिशाली बनेगा।

जैन जीवन प्रणाली (१)

जैन गृहस्थ की आचार-संहिता

सुख-प्राप्ति और दु:ख-मुक्ति की दिशा मे प्रत्येक चेतनशील प्राणी प्रयत्न करता है। मनुष्य विकसित चेतना वाला प्राणी है। उसकी बौद्धिक क्षमता और शारीरिक क्षमता बेजोड़ है। वह नित्य नए आविष्कारों तथा प्रयोगो द्वारा ऐसे ससाधनो को प्राप्त करने मे जुटा है, जो उसे अधिक से अधिक सुख दे सके, आराम दे सके। इस परिप्रेक्ष्य मे अनेक दार्शनिक विचार सामने आए। सम्पूर्ण सुख-भोग का हेतु क्या है? इसके उत्तर में डार्विन ने कहा—अस्तित्व की सुरक्षा के लिए सतत सघर्षशील बने रहना ही सुख का आधार-भूत तत्त्व है। इसी प्रकार फ्रायड ने काम को, मार्क्स ने अर्थ को और नीत्से ने सत्ता को सुख का आधार माना।

इन महान् विचारको ने अपने विचार-दर्शन को इतने प्रभावी ढग से प्रस्तुत किया कि वैयक्तिक और जागतिक स्तर पर मनुष्य-समाज की सारी अवधारणाए बदल गईं। इस सुखवादी विचारधारा के आधार पर अनेक प्रकार की जीवन-प्रणालिया विकसित हुईं। इस सन्दर्भ में जैन-दर्शन नई दिशा प्रदान करता है। भगवान् महावीर ने कहा—सुख का आधार है अध्यात्म। सघर्षशीलता, कामना, अर्थ और सत्ता—ये समग्र शक्तिया धर्म से नियन्त्रित बनकर ही मानव-जाति के लिए वरदान बन सकती हैं। दु:ख-मुक्ति और सुख-समृद्धि की पौध अध्यात्म के ठोस धरातल पर ही सभव है। अध्यात्म की भूमिका पर इस जीवन-शैली को हम 'जैन जीवन-प्रणाली' कह सकते हैं। उसके आधारभूत तत्त्व हैं—सयम और सदाचार। महावीर ने कहा—

> असयम परित्यज्य, सयमस्तेन सेव्यताम्।
> असयमो महद् दु:ख, सयम सुखमुत्तमम् ॥ सबोधि १४।४३

असयम दु:ख है सयम सुख है, इसलिए असयम को त्यागो और सयम का आचरण करो।

गृहस्थ हो या सन्यासी—सब मुक्त हो सकते हैं, यदि वे अनुत्तर सयम का पालन करते हो। सन्यासी सयम के शिखर पर स्थित होता है उसकी प्रत्येक प्रवृत्ति अध्यात्म से अनुप्राणित होती है, किन्तु एक गृहस्थ के लिए भी सयम का बहुत बडा मूल्य है। सयम के द्वारा जीवन मूल्यवान् बन

जाता है। सयम ही धर्म है, सयम ही अध्यात्म है। व्यक्ति किसी भी कार्य-क्षेत्र, परिस्थिति, सम्प्रदाय और परिवेश मे रहता हुआ धर्म की साधना कर सकता है। इस क्षेत्र मे किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता नही है। भगवान् महावीर ने मुनिजनो के लिए आचार-सहिता का निर्धारण किया तो सद्-गृहस्थो के लिए भी एक उन्नत जीवन-प्रणाली प्रस्तुत की, उसकी व्यवस्थित विधि बताई।

धर्म के क्षेत्र मे यह जैन-धर्म की सर्वथा मौलिक और अद्भुत देन है। गृहस्थ साधक की आचार-सहिता और उसका साधना-क्रम, जैन-परम्परा मे जितना सुन्दर और व्यवस्थित मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

जैन-धर्म मे मुनि के लिए पाच महाव्रतो तथा गृहस्थ साधक के लिए पाच अणुव्रतो के पालन का विधान है।

महाव्रतात्मको धर्मोऽनगाराणा च जायते।
अणुव्रतात्मको धर्मो, जायते गृहमेधिनाम् संबोधि ॥ १४/४०

अणुव्रत—

अणुव्रत का अर्थ है—छोटे-छोटे व्रत या यथाशक्ति गृहीत व्रत। अणुव्रत पाच हैं—

१. **अहिंसा-अणुव्रत**—स्थूल हिंसा का परित्याग।

गृहस्थ के लिए आरम्भजा— कृषि, वाणिज्य आदि मे होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है। उस पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। गृहस्थी को चलाने के लिए उसे वध-बन्धन आदि का सहारा भी लेना पडता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से भी वह नही बच सकता। वह पारिवारिक, सामाजिक दायित्वो को वहन करते हुए केवल सकल्पपूर्वक निरपराध प्राणियो की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा अणुव्रत है।

२ **सत्य-अणुव्रत**— स्थूल असत्य का परित्याग।

गृहस्थ के लिए सपूर्ण असत्य को त्यागना कठिन है, किन्तु वह ऐसे असत्य का सहारा न ले जिससे किसी निर्दोष प्राणी को सकटग्रस्त होना पडे।

३. **अस्तेय-अणुव्रत**—गृहस्थ के लिए छोटी-वडी सभी प्रकार की चोरी से बचना कठिन है, परन्तु वह कम से कम ऐसी चोरी न करे, जिससे राज्य दण्ड दे और लोक निंदा करे। डाका डालना, ताला तोडकर चोरी करना, वैयक्तिक या सरकारी सपत्ति को लूटना—ये सब सद्गृहस्थ के लिए वर्जनीय हैं।

४ ब्रह्मचर्य-अणुव्रत—गृहस्थ के लिए पूर्ण ब्रह्मचारी रहना कठिन है, पर एक सीमा तक वासना पर नियन्त्रण स्थापित करना भी आवश्यक है। परस्त्री-गमन, वेश्यागमन आदि अवांछनीय प्रवृत्तियां हैं। सद्गृहस्थ उनसे बचे और स्वदार-संतोष व्रत का पालन करे। वर्तमान के संदर्भ में जहां 'एड्स' जैसा घातक रोग एक विभीषिका पैदा कर रहा है, ब्रह्मचर्य अणुव्रत का मूल्य बढ़ गया है।

५ अपरिग्रह अणुव्रत—गृहस्थ सर्वथा परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता, पर इच्छाओं के असीमित विस्तार का नियमन कर वह परिग्रह की सीमा कर सकता है। अति संग्रह की मनोवृत्ति सामाजिक विषमता को जन्म देती है, अतः अपरिग्रह अणुव्रत सामाजिक स्वस्थता के लिए भी जरूरी है।

गुणव्रत

जो व्रत गृहस्थ की बाह्य-चर्या को संयमित करते हैं, उन्हें गुणव्रत कहा जाता है। वे तीन हैं—

१ दिग्विरति—पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं में गमनागमन की सीमा का निर्धारण।

२. उपभोग परिभोग-परिमाण व्रत—व्यक्तिगत भोग-सामग्री का परिमाण करना।

३. अनर्थ-दण्ड विरति—बिना प्रयोजन हिंसा का त्याग करना।

ये तीनों व्रत अणुव्रत भावना को पुष्ट करते हैं इसलिए भी ये गुणव्रत कहलाते हैं।

शिक्षाव्रत

जो व्रत अभ्यास-साध्य होते हैं और आंतरिक पवित्रता बढ़ाते हैं, उन्हें शिक्षाव्रत कहा जाता है। वे चार हैं—

१ सामायिक—असत्प्रवृत्ति से विरत होकर समता का अभ्यास करना।

२ देशावकाशिकव्रत—एक निश्चित अवधि के लिए विधिपूर्वक हिंसा का त्याग करना।

३ पौषध—उपवासपूर्वक असत्प्रवृत्ति का त्याग करना।

४ अतिथि-संविभाग—अपना विसर्जन कर पात्र को दान देना।

इन व्रतों का पालन करने वाला जैन श्रावक या उपासक कहलाता है। ये व्रत शांत, सुखी, संयमी और सात्विक जीवन के प्रेरक हैं।

भारतीय संस्कृति में साधु-संस्था की अतिरिक्त प्रतिष्ठा है। उसे ऊंची निगाहों से देखा जाता है। संतों के प्रति जनता में सहज पूज्य भाव है। इस

सदर्भ मे ये स्वर भी उभरे कि मोक्ष का अधिकारी सन्यासी ही हो सकता है। गृहस्थ मुक्ति का अधिकारी नही है। भगवान् महावीर ने भी कहा—

"बधे गिहवासे, मोक्खे परियाये"

गृहवास बन्धन है, पर्याय—मुनि-जीवन मोक्ष है। क्योकि "सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परियाये" गृहवास सक्लेशो से भरा है, पर्याय क्लेश-रहित है।

पर इसका अर्थ यह नही है कि गृहस्थ मोक्ष प्राप्त कर ही नही सकता।

जैन धर्म के प्रवक्ता आचार्यों ने कहा—

न्यायार्जितधन स्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रिय ।
शास्त्रवित् सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुच्यते ।।

जिसके अर्थार्जन के स्रोत शुद्ध हो, जिसकी तत्त्वज्ञान मे निष्ठा हो, त्यागी साधु-सन्तो के प्रति अनुराग हो, जो धर्म-शास्त्रो का ज्ञाता हो और सत्यवादी हो, वह व्यक्ति गृहस्थ मे रहना हुआ भी मुक्त हो सकता है।

जैन-श्रावक के लिए निर्दिष्ट उक्त बारह व्रत निश्चित ही व्यवहार-शुद्धि के पोपक हैं। इनमे नीति, प्रामाणिकता, सयम सदाचार और सात्विकता की प्रधानता है। इन व्रतो के पालन से जो तथ्य फलित होते हैं, उनमे आदर्श समाज के निर्माण की परिकल्पना निहित है।

व्रतो के फलित—

१ **अहिंसा अणुव्रत के फलित**—अहिंसा का साधक किसी के साथ क्रूर व्यवहार नही करता।

अधीनस्थ व्यक्ति के श्रम और शक्ति का शोषण नही करता, उसके भक्तपान का विच्छेद नही करता। किसी की दुर्बलता का अनुचित लाभ नहीं उठाता।

२. **सत्य अणुव्रत के फलित**—सत्य का साधक किसी का मर्म-प्रकाशन नही करता। झूठे दस्तावेज या लेख नही लिखता। किसी पर झूठा आरोप नही लगाता।

३. **अचौर्य अणुव्रत के फलित**—अस्तेय का साधक चोरी का माल नही लेता। राष्ट्रीय हितो का विरोधी व्यापार नही करता।

४. **ब्रह्मचर्य अणुव्रत के फलित**—ब्रह्मचर्य का साधक यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, इन्द्रिय-विजय और मनो-विजय का अभ्यास करता है।

५. अपरिग्रह का फलित—अपरिग्रह का साधक अति सग्रह नही करता, अनावश्यक सग्रह नही करता, शोषण नही करता, किसी के अधिकारो का हनन नही करता।

गृहस्थी के रथ के दो पहिए हैं—हिंसा और परिग्रह। गृहस्थ साधक इनमे सर्वथा उपरत नही हो सकता। फिर भी इनकी गति अनियन्त्रित और निरकुश न हो, इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने ये दो सूत्र दिए—

१. अनर्थ हिंसा से बचाव।

२ इच्छाओ का अल्पीकरण।

ये सूत्र जैन जीवन-प्रणाली के रूप मे विकसित हुए।

यह एक सद्गृहस्थ की पहचान बन गई। जैसे महात्मा गाधी ने अति सग्रह या पूजीवाद मे उत्पन्न समस्याओ के समाधान हेतु विकेन्द्रित अर्थ-व्यवस्था का सूत्र दिया ट्रस्टीशिप की नई दृष्टि दी वैसे ही भगवान् महावीर ने उपभोग-परिभोग-विरति व्रत और इच्छा परिमाण व्रत के माध्यम से व्यक्तिगत भोग-सामग्री के सयम की तथा इच्छा-सयम की प्रेरणा दी, ये सामाजिक परिवर्तन एव आर्थिक स्रोतो की शुद्धि की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान हैं।

एक श्रावक न केवल आध्यात्मिक होता है और न केवल सामाजिक। वह दोनों भूमिकाओ मे सामजस्य स्थापित कर चलता है।

द्विविधो गृहिणां धर्मो आत्मिको लौकिकस्तथा।
सवरो निजरा पूव समाजाभिमतो परः॥

गृहस्थ धर्म दो प्रकार का है—आत्मिक और लौकिक। आत्मिक धर्म है सवर और निर्जरा। समाज द्वारा अभिमत धर्म लौकिक कहा जाता। आत्मिक धर्म का उद्देश्य है—आत्मशुद्धि। वह अर्हतो द्वारा प्रतिपादित है।

लौकिक धर्म का उद्देश्य है समाज की सुव्यवस्था। उसका प्रवर्तन समाज-शास्त्रियो द्वारा होता है। फिर भी अध्यात्म सामाजिकता का विरोधी नही है। वह उसे स्वस्थता प्रदान करता है।

इन व्रतो का उद्देश्य है—व्यक्ति घर-परिवार मे रहता हुआ भी श्रेष्ठ धार्मिक जीवन जी सके तथा उन क्षमताओ का अर्जन कर सके, जिससे अध्यात्म की ऊचाई को छूआ जा सके। स्वस्थ और सतुलित समाज की सरचना मे भी इन व्रतो की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। हिंसा, सग्रह और भोग की अति सामाजिक विषमता और अशांति को जन्म देती है। उक्त व्रतों की भावना मे इन त्रैकालिक समस्याओ का समाधान निहित है।

इन व्रतो का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नही है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा मे पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतो से फलित होती है।

ध्यान शतक मे लिखा है—"तम्हा आराहए दुवे लोए" धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनो की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियो से विमुख नही हो सकता, पर उन भूमिकाओ की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड जाता है कि बाहर से लिप्त नही होता। व्यवहार मे जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नही करता।

...नी से "जाति नाशक" ...त्र के शिकार हो सकते हैं। ...हा, जातिविनाशक। यह एक ...ढग का हथियार है जिसके ...रे मे अध्ययन-अनुसन्धान चल ...रा है। आपके प्रिय व्यजन मे मसाले, पडते हैं, उन्ही की ...द से जातिसहारक अस्त्र आपका पता कर लेगा और आपका सफाया कर देगा। यहा हमारा अभिप्राय विविध जातीय समूहो के लोगो का पता करने और उनका सफाया करने के लिए विशेष रासायनिक, जैविक या ...न्य द्रव्यो के इस्तेमाल मे है।

विशेषज्ञो की राय है कि 'जातिसहारक" अस्त्र लोगो के खानपान और पहनावे या दोनो के बीच के अन्तर का आसानी से "विवेक" कर सकता है और चुनिन्दा लोगो का सफाया कर सकता है। यह चयन शक्ति रक्त समूहो, त्वचा के रगद्रव्य आदि विशिष्टताओ पर आधारित है।

न्यूट्रन बम

...अभी ...द वर्षों पहले तक ...दम का विकास कर सकना ...न्ति को क्षति पहुचाये ...नग ...र कर सकता हो, ... दुनिया की, ...ी बात थी।

मृत्यु के निर्माता

निकोलाई ओबोतोव

मे लाखो अदृश्य कारतूसो की तरह बिधती जाती है और या तो लोग मर जाते हैं या कम से कम उनका वध्यकरण अवश्य हो जाता है, लेकिन इमारतें, पुल, सडकें आदि ज्यो की त्यो साबुत बनी रहती हैं। युद्ध सामग्रियो के पश्चिमी निर्माता न्यूट्रन बम की "श्रेष्ठता" और "सम्भावनाओ" पर लट्टू हो रहे हैं और यह मानते हैं कि ध्वसकारी अस्त्रो के भण्डार मे यह एक नया योगदान है।

लेकिन ससार के अनेक देश दूसरी ही तरह सोचते हैं। उनका विश्वास है कि न्यूट्रन बम के निर्माण से नाभिकीय युद्ध का खतरा बढ जायेगा। मसलन, भारत के विदेश मत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने हाल मे ससद मे कहा कि भारत सरकार न्यूट्रन बम के निर्माण की जोरदार भर्त्सना करती है।

... प्रविधि ... फल... प्रद ... है, लेकिन ... प्रहारक अस्त्र के रूप ... किया जा सकता है।

आनुवंशिक अस्त्र

पश्चिमी समाचारपत्रो की खबरो से पता चलता है कि तथाकथित आनुवंशिकास्त्रो के विकास के लिए भी अनुसधान कार्य चल रहा है। इनके प्रयोग से पैतृकता की यत्रविधि छिन्न-भिन्न हो जायेगी। मनुष्य के पित्र्यसूत्रो या जीन को प्रभावित करके, जो पैतृकता या आनुवंशिकता के वाहक और मानव जीवों की प्रक्रियाओ के मुख्य नियामक हैं, शरीर को देखने, सुनने, चलने-फिरने और हिलने-डुलने, सास लेने, सोचने-विचारने आदि की किसी भी जीवन्त क्रिया को अस्त-व्यस्त किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य को यत्रमानव मे बदला जा सकता है।

विज्ञान और प्रविधि के उन क्षेत्रो की यह एक अधूरी सूची है जिनके विकास से निकट भविष्य मे ही सामूहिक विनाश के सर्वथा नये प्रकार के अस्त्र और उनकी प्रणालिया तैयार की जा सकती हैं। ... जाहिर है, ससार के किसी ...

...क्रम सामान्य व्यवहार का रूप लेते जा रहे हैं। सामूहिक ... से पूर्व-पश्चिम व्यापार को, इसी प्रकार, और अधिक प्रोत्साहन मिला है। सूचना के और अधिक अच्छे ढग से विनिमय के लिए हेलसिकी मे तय किये गये कदमो के कार्यान्वयन मे भी प्रगति हुई है।

सोवियत सघ खुशी के साथ उन विश्वास-निर्माण सम्बन्धी कार्यों पर अमल कर रहा है जिनकी अन्तिम दस्तावेज मे व्यवस्था है।

सैनिक तनाव-शैथिल्य का मार्ग प्रशस्त करने के बारे मे सोवियत सघ का रुख मध्य यूरोप मे सशस्त्र सेनाओ तथा शस्त्रास्त्रो मे कटौती के बारे मे ठोस समझौता करने की उसकी तत्परता से उत्पन्न होता है।

नकारात्मक प्रभाव

दूसरी तरफ यह स्वीकार किया ... लेकिन पत्रों ... दस्तावेज का ए... मे लिया जाना ...श्यक बनाते ... कभी नहीं भू... गण को ... स्थायी शा... मानव अधि... पक्ष मे रह... लाभप्रद ... शान्ति तथा सुदृढीकरण और के अनौपचारिक क्षेप के शब्दो मे, ऐसे हेलसिकी सम्भ... पूरी तरह सघ अन्तिम को कार्यान्वित

साभार: ...ध्वनि, ...

जैन जीवन-प्रणाली (२)

जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय संस्कृति और संन्यास

विश्व मे तीन सस्कृतिया प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी सस्कृति, २ भारतीय सस्कृति और ३ चीनी सस्कृति ।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान सस्कृति रही है । सन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान सस्कृति से हुआ । यह भारतीय सस्कृति का महान् अवदान है । भारतीय सस्कृति की मुख्य तीन धाराए हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन । जैन साहित्य मे व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए । जैसे कि सुख और दुःख अपना-अपना है । कर्मों का कर्त्ता और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वय है । अपने कृत कर्मो का फल व्यक्ति स्वय भोगता है । फल भोग मे किसी की साझेदारी या भागीदारी नहीं चलती । इन अध्यात्म-सूत्रो से प्रेरित हो हजारों-हजारो व्यक्ति आत्महित की साधना मे सलग्न हो गए । यही है सन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी । वैसे भारतीय सस्कृति की तीनों ही धाराओ मे सन्यास की परपरा रही है । जैनो मे सन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धो मे सावधिक होती है । वैदिको मे प्रारम्भ से दीक्षा (सन्यास) की स्वीकृति नही थी । यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा मे भी सन्यास को मान्यता मिली । वर्तमान मे तीनो ही परम्परा के साधु-सन्यासी हजारो की सख्या मे परिव्रजन करते हैं । उन सबकी अपनी-अपनी आचार-सहिता है । अपनी-अपनी विधिया हैं ।

जैन-मुनियो की अहिसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-सहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्या सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है ।

जैन मुनि के लिए निग्रन्थ, समण, श्रमण, भिक्षु, अनगार आदि शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सवाहक है । निर्ग्रन्थ उनकी अकिंचनता का, समण समता का, श्रमण—श्रमशीलता और तपस्विता का, भिक्षु भिक्षाजीविता का तथा अनगार—निर्मुक्तता का प्रतीक है । जैन मु[illegible] की चर्या मे उत्कृष्ट निःसगता के दर्शन होते हैं । वे सम्बन्धातीत [illegible]

जैन जीवन-प्रणाली (२)

जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय सस्कृति और संन्यास

विश्व मे तीन सस्कृतियां प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी सस्कृति, २ भारतीय सस्कृति और ३ चीनी सस्कृति।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान सस्कृति रही है। सन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान सस्कृति से हुआ। यह भारतीय सस्कृति का महान् अवदान है। भारतीय सस्कृति की मुख्य तीन धाराए हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन। जैन साहित्य मे व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए। जैसे कि सुख और दुःख अपना-अपना है। कर्मों का कर्त्ता और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वय है। अपने कृत कर्मों का फल व्यक्ति स्वय भोगता है। फल भोग मे किसी की साझेदारी या भागीदारी नहीं चलती। इन अध्यात्म-सूत्रो से प्रेरित हो हजारो-हजारो व्यक्ति आत्महित की साधना मे सलग्न हो गए। यही है सन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी। वैसे भारतीय सस्कृति की तीनों ही धाराओ मे सन्यास की परपरा रही है। जैनो मे सन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धो मे सावधिक होती है। वैदिको मे प्रारम्भ से दीक्षा (सन्यास) की स्वीकृति नही थी। यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा मे भी सन्यास को मान्यता मिली। वर्तमान मे तीनो ही परम्परा के साधु-सन्यासी हजारो की सख्या मे परिव्रजन करते हैं। उन सबकी अपनी-अपनी आचार-सहिता है। अपनी-अपनी विधिया हैं।

जैन-मुनियो की अहिसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-सहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्या सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है।

जैन मुनि के लिए निग्रन्थ, समण, श्रमण, भिक्षु, अनगार आदि शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सवाहक है। निर्ग्रन्थ उनकी अपरिग्रहता का, समण समता का, श्रमण—श्रमशीलता और तपस्विता का, भिक्षु भिक्षाजीविता का तथा अनगार—निर्ममत्वता का प्रतीक है। जैन मुनियों की चर्या मे उत्कृष्ट निःसगता के दर्शन होते हैं। वे सम्बन्धातीत चेतना के

इन व्रतो का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नही है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा मे पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतो से फलित होती है।

ध्यान शतक मे लिखा है—"तम्हा आराहए दुवे लोए" धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनो की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियो से विमुख नही हो सकता, पर उन भूमिकाओ की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड जाता है कि बाहर से लिप्त नही होता। व्यवहार मे जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नही करता।

जैन जीवन-प्रणाली (२)

जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय संस्कृति और संन्यास

[illegible]

इन व्रतो का आधार कोरा सिद्धान्तवाद या आदर्शवाद नही है, अपितु ये व्यवहार की उर्वरा मे पल्लवित हुए हैं। ये सामाजिक जीवन की उच्चता और वैयक्तिक पवित्रता का स्थिर आधार प्रस्तुत करते हैं। आतरिक पवित्रता के साथ व्यवहार-शुद्धि भी इन व्रतो से फलित होती है।

ध्यान शतक मे लिखा है—"तम्हा आराहए दुवे लोए" धार्मिक व्यक्ति धर्म के द्वारा वर्तमान जीवन और भावी जीवन दोनो की आराधना करता है। धर्म का पारलौकिक फल है—स्वर्ग या मोक्ष तथा इहलौकिक फल है—कषाय-मुक्ति, व्यवहार-शुद्धि।

जैन जीवन-प्रणाली का फलित है—जैन श्रावक धर्म की आराधना करता हुआ, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जिम्मेदारियो से विमुख नही हो सकता, पर उन भूमिकाओ की शुद्धि के साथ आत्महित की सुरक्षा करना वह अपना परम कर्त्तव्य मानता है।

वह अपनी अन्तश्चेतना से इतना जुड जाता है कि बाहर से लिप्त नही होता। व्यवहार मे जीता हुआ भी वह अपने केन्द्र चेतना को विस्मृत नही करता।

जैन जीवन-प्रणाली (२)

जैन मुनि की आचार-संहिता

भारतीय संस्कृति और संन्यास

विश्व मे तीन सस्कृतिया प्रभावशाली मानी जाती हैं—

१ यूनानी सस्कृति, २ भारतीय सस्कृति और ३ चीनी सस्कृति ।

पहली समाज प्रधान, दूसरी व्यक्ति प्रधान और तीसरी परिवार प्रधान सस्कृति रही है । सन्यास का प्रादुर्भाव व्यक्ति प्रधान सस्कृति से हुआ । यह भारतीय सस्कृति का महान् अवदान है । भारतीय सस्कृति की मुख्य तीन धाराए हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन । जैन साहित्य मे व्यक्तिवादी स्वर अधिक मुखर हुए । जैसे कि सुख और दु ख अपना-अपना है । कर्मो का कर्त्ता और उनका फल-भोक्ता व्यक्ति स्वय है । अपने कृत कर्मों का फल व्यक्ति स्वय भोगता है । फल भोग मे किसी की साझेदारी या भागीदारी नहीं चलती । इन अध्यात्म-सूत्रो से प्रेरित हो हजारो-हजारो व्यक्ति आत्महित की साधना मे सलग्न हो गए । यही है सन्यास-परम्परा के सूत्रपात की आदि कहानी । वैसे भारतीय सस्कृति की तीनो ही धाराओ मे सन्यास की परपरा रही है । जैनो मे सन्यास-दीक्षा जीवन-पर्यन्त होती है, बौद्धो मे सावधिक होती है । वैदिकों मे प्रारम्भ से दीक्षा (सन्यास) की स्वीकृति नही थी । यह जैन धर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि वैदिक परम्परा मे भी सन्यास को मान्यता मिली । वर्तमान मे तीनो ही परम्परा के साधु-सन्यासी हजारो की सख्या मे परिव्रजन करते हैं । उन सबकी अपनी-अपनी आचार-सहिता है । अपनी-अपनी विधिया हैं ।

जैन-मुनियो की अहिंसा और अपरिग्रह प्रधान आचार-सहिता तथा त्याग-वैराग्य मूलक चर्या सदा से ही लोक-चेतना को प्रभावित करती रही है ।

जैन मुनि के लिए निर्ग्रन्थ, समण, श्रमण, भिक्षु, अनगार आदि शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है, जो विशेष अर्थों का सवाहक है । निर्ग्रन्थ उनकी अकिंचनता का, समण समता का, श्रमण—श्रमशीलता और तपस्विता का, भिक्षु भिक्षाजीविता का तथा अनगार—निर्मुक्तता का प्रतीक है । जैन मुनियो की चर्या मे उत्कृष्ट नि सगता के दर्शन होते हैं । वे सम्बन्धातीत चेतना के

जागरण द्वारा अनेकता मे एकता के जीवन्त उदाहरण हैं । वस्तुत जिन रागात्मक सम्बन्धो के आधार पर परिवार या समाज का निर्माण होता है, उन सम्बन्धो का विच्छेद ही सन्यास या दीक्षा है । यह व्यक्ति-प्रधान सस्कृति की पराकाष्ठा है । धर्म व्यक्तिगत तत्त्व है, पर उसकी साधना से समूह प्रभावित होता है, सामूहिक चेतना जागती है, इसलिए वह समूहगत भी होता हैं । तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने पहली बार धर्म-साधना को सामूहिक रूप दिया । श्रमण-सघ की स्थापना की । भगवान महावीर ने उसका उदात्तीकरण किया । इसी का परिणाम है कि आज भी जैन मुनि बडे-बडे सघो मे रहते हुए आत्म-साधना के पथ पर निर्बाध आगे बढ़ रहे हैं ।

जैन मुनि का आचार

एक बार किसी नगर के उद्यान मे महान् ज्ञानी अध्यात्म दृष्टि-सम्पन्न, सयम और तप मे लीन, अर्हत-प्रवचन के ममज्ञ प्रतापी जैनाचार्य का आगमन हुआ । तत्कालीन राजा, राज्यमत्री, ब्राह्मण-विद्वान्, क्षत्रिय वर्ग आदि हजारो श्रोताओ ने उनका धर्म-प्रवचन सुना । उनकी जिज्ञासा जागी । प्रवचन के उपरात उन्होने पूछा—भन्ते ! हम जैन मुनि के आचार के विषय मे विस्तार से जानना चाहते हैं । आपको कष्ट न हो तो बताने का अनुग्रह करें ।

आचार्य ने उनकी जिज्ञासा को समाहित करते हुए कहा—मोक्षार्थी निर्ग्रन्थो का आचार बहुत कठोर है, दुश्चीर्ण है । इस प्रकार का अत्यन्त दुष्कर आचार निर्ग्रन्थ-दर्शन के सिवाय कही नही मिलता । जैन आचार-शास्त्र के मौलिक नियम बालक, युवा, वृद्ध, स्वस्थ, अस्वस्थ सभी श्रमणो के लिए समान रूप से लागू होते हैं, उन्हे उनका अखड पालन करना होता है ।

मुनि का अर्थ है ज्ञानी । ज्ञान का सार है आचार । आचार का पहला सोपान है—समस्त प्राणियो के प्रति आत्मतुला की दृष्टि, आत्मत्व की अनुभूति । आचार का अन्तिम लक्ष्य है—आत्म-स्वरूप मे अवस्थित होना, समस्त कर्मों से मुक्त हो आत्मा के चैतन्य स्वरूप मे रमण करना, मोक्ष को प्राप्त करना ।

इनकी सिद्धि के लिए वे पाच महाव्रतात्मक आचार को स्वीकार करते हैं ।[1]

पांच महाव्रत

१ **अहिंसा महाव्रत**—मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसा का पालन करना । अहिंसा का फलित है—समता और मैत्री । अहिंसा का सीधा अर्थ है सब प्राणियो के प्रति सयम । जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और मानव की

१ दसवेआलिय, अ० ६

हिंसा तो दूर, जैन मुनि पेड-पौधो आदि सूक्ष्म जीवो की हिंसा भी नहीं करते। जैन तत्त्व विद्या के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति को भी सजीव माना गया है। इन स्थावर जीवो को भी कष्ट न हो, इस दृष्टि से जैन मुनि सदा जागरूक रहते हैं। वे धरती का दोहन नही करते; नदी आदि के कच्चे जल का उपयोग नही करते हैं, जल को गन्दा नही करते, आग नही जलाते, हवा को दूषित नही करते, हरियाली को काटना तो दूर उसे पांवो से भी नही कुचलते। सीधे शब्दो मे कहे तो वे सहज जीवन जीते हैं, प्रकृति की छेडछाड नही करते। अहिंसक वृत्ति के कारण किसी प्रकार का प्रदूषण फैलाकर पर्यावरण को क्षति नही पहुचाते। इसलिए कहा जा सकता है कि जैन मुनि न केवल मनुष्य जाति के अपितु सम्पूर्ण चराचर जगत के रक्षक हैं, त्राता हैं।

२. **सत्य महाव्रत**—मानसिक, वाचिक और कायिक ऋजुता का विकास तथा अविसवादन योग का अभ्यास। जैन मुनि किसी भी परिस्थिति में असत्य का सहारा नही लेते। असत्य भाषा का प्रयोग नही करते। असत्य बोलने के हेतु हैं—क्रोध, लोभ, भय और हास्य। मुनि इनका वर्जन करते हैं। वे किसी को आघात या कष्ट पहुचाने वाला, आपसी वैर-विरोध, तनाव या मन-मुटाव बढ़ाने वाला, हिंसा का निमित्त बनने वाला कठोर और निश्चयात्मक शब्द नहीं बोलते। सत्य-महाव्रत के दो सुरक्षा प्रहरी हैं—वाणी का सयम और भाषा-विवेक। अविवेकपूर्ण और असयत वाणी का प्रयोग अनर्थ का कारण बन जाता है।

३ **अचौर्य महाव्रत**—स्वामी की अनुमति के बिना अल्पमूल्य या बहु-मूल्य वस्तु का ग्रहण न करना तथा देव, गुरु और धर्म की आज्ञा का अतिक्रमण न करना।

बिना आज्ञा किसी के मकान मे रहना, किसी वस्तु का उपभोग करना, अभिभावको की अनुमति बिना किसी व्यक्ति को दीक्षित करना—ये कार्य जैन आचार शास्त्र सम्मत नही हैं।

४ **ब्रह्मचर्य महाव्रत**—मन, वाणी और शरीर की पवित्रता का विकास, वासना-विजय, आत्म-रमण। अब्रह्मचर्य घोर प्रमाद है। सयम और चरित्र का नाश करने वाला है। जैन मुनि पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए वे खाद्य-सयम, दृष्टि-सयम और स्मृति-सयम की साधना करते हैं। वासना को उत्तेजित करने वाले ससर्ग, पहनावा, चर्चा और वैसे साहित्य से स्वय को बचाते हैं। साधु-साध्विया क्रमश स्त्री और पुरुष का स्पर्श तक नहीं करते। उनके साथ एक आसन पर नही बैठते, एकात मे बातचीत नही करते। क्योकि साधना के प्रारम्भ मे निमित्तो से बचना आवश्यक हो जाता है।

५. अपरिग्रह महाव्रत—सग्रह-त्याग, समत्व-विसर्जन।

जैन-मुनि अकिंचन होते हैं। वे सोना-चादी, रुपये-पैसे नही रखते। किसी प्रकार का बैंक-बैलेंस नही रखते। जमीन-जायदाद नही रखते। यहा तक कि दूसरे दिन के लिए भी खाद्य-पेय पदार्थों का सग्रह नही करते। कबीरजी ने भी इसके समर्थन मे लिखा है—

साधु हो संग्रह करे, दूजे दिन का नीर।
तरे न तारे जगत् को, कह गये दास कबीर॥

६. रात्रि-भोजन-वर्जन—जैन-आगमो मे रात्रि-भोजन का त्याग—छठा व्रत माना गया है। जैन मुनि पाच महाव्रतो की भाति रात्रि-भोजन-विरमण व्रत का भी पूरी निष्ठा के साथ पालन करते हैं। वे रात्रि मे किसी प्रकार के खाद्य-पेय पदार्थ और औषध का सेवन नही करते। यह बहुत बडा तप है।

उक्त पाच महाव्रत जैन मुनि की साधना का मूल आधार है। इनकी पुष्टि और सिद्धि के लिए उन्हे सतत जागरूक प्रयत्न करना होता है। बार-बार अभ्यास करना होता है। प्रत्येक महाव्रत की आराधना के लिए जैन-शास्त्रो मे पाच-पाच अभ्यास-विन्दु निर्दिष्ट हैं, जिन्हे भावना कहते हैं।

जैन-परम्परा मे पाच महाव्रतो की पच्चीस भावनाए सुप्रसिद्ध हैं, जैसे—

१. अहिंसा महाव्रत की पाच भावनाए—१. चलने मे जागरूकता, २. मन का सयम, ३. वाणी का सयम, ४. धर्मोपकरणो के व्यवहार में जागरूकता, ५ आहार-शुद्धि का विवेक।

२. सत्य महाव्रत की पाच भावनाए—१ वाणी का विवेक, २-५. क्रोध, लोभ, भय और हास्य का वर्जन।

३. अचौर्य महाव्रत की पाच भावनाए—१. याचना का विवेक, २. उपभोग का विवेक, ३ परिमित पदार्थों का स्वीकरण, ४. उनकी सीमा का निर्धारण, ५ साधर्मिको से याचना का विवेक।

४. ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाच भावनाए—१ एकान्तवास, २ वैषयिक कथा का वर्जन, ३. चक्षु-सयम, ४. स्मृति-सयम, ५. अतिमात्र/प्रणीत भोजन का वर्जन।

५. अपरिग्रह महाव्रत की पाच भावनाए—१-५. पाचो इन्द्रियो का सयम तथा मनोज्ञ-अमनोज्ञ इन्द्रिय-विषयो के प्रति समता की साधना।

महाव्रतो की सुरक्षा के लिए पांच समितियो और तीन गुप्तियो के पालन का प्रावधान है। ये जिन-शासन मे आठ प्रवचन-माता के नाम से विख्यात हैं। समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवृत्ति, विवेकपूर्ण प्रवृत्ति। वे पाच हैं—

१ ईर्या-समिति—गमन योग, युग-प्रमित भूमि को देखकर चलना।

२ भाषा-समिति—वचन-योग, विवेकपूर्वक निरवद्य भाषा बोलना।

३ एषणा-समिति—निर्दोष-भिक्षा का ग्रहण तथा अनासक्त भाव से आहार करना।

४ आदान-निक्षेप-समिति—उपकरणो को लेने व रखने मे सावधानी रखना।

५ उत्सर्ग-समिति—उत्सर्ग-विधि मे विवेक रखना।

मनुष्य की जीवन-यात्रा के मुख्य पाच व्यवहार हैं—चलना, बोलना, खाना, वस्तुओ का उपयोग करना और उत्सर्ग करना। इन प्रवृत्तियो के आधार पर व्यक्ति के अन्तरग और बाह्य व्यक्तित्व को परखा जा सकता है। एक मुनि की जीवन-शैली गृहस्थ की जीवन-शैली से सर्वथा भिन्न होनी चाहिए। समितिया उसके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का पेरामीटर बन सकती हैं।

साधना की दृष्टि मे सम्यक् प्रवृत्ति ही पर्याप्त नहीं है, उसकी तेजस्विता और प्रभावोत्पादकता के लिए निवृत्ति का मूल्य भी कम नही है। जैन साधना मूलत निवृत्ति प्रधान है। निर्वाण-प्रधान है। उसके लिए त्रिगुप्ति की साधना आवश्यक है। गुप्ति का अर्थ है—सत् और असत—दोनो प्रकार की प्रवृत्ति का निरोध। तीन गुप्तिया ये हैं—

(१) मनगुप्ति—मानसिक प्रवृत्तियो का सयम या निरोध।

(२) वचनगुप्ति—वाणी का सयम या निरोध।

(३) कायगुप्ति—कायिक चेष्टाओ का सयम या निरोध।

प्रत्येक जैन मुनि के लिए पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो का पालन करना अनिवार्य है। इन तेरह नियमों के आधार पर अन्य भी अनेक प्रकार के नियमो-उपनियमो का विकास हुआ है।

जैन धर्म के महान् प्रवक्ता आचार्य प्रवर के मुह से जैन मुनियों के आचार के विषय मे विस्तार से जानकारी प्राप्त कर श्रोताओं ने कृतार्थता का अनुभव किया। जैन-श्रमणो की तपस्विता और आचार-निष्ठा के प्रति उनके मन मे आस्था का भाव जागा। उनका माथा अनायास झुक गया उनके अलौकिक त्याग के प्रति। उनके जिज्ञासु भाव ने अध्यात्म के सुमेरु जैनाचार्य से बराबर सपर्क बनाए रखने को विवश किया। इस दौरान जैन मुनि के आचार की अनेक बारीकिया श्रुति के वातायन से उनकी चेतना के लोक मे प्रविष्ट हुई। जैसे—

जैन मुनि अनगार होते हैं। उनका अपना कही मकान नही होता।

जहा जाते हैं, वही व्यक्तिगत, सार्वजनिक या सरकारी जो भी स्थान मिले, अधिकारियो की अनुमति पूर्वक रह जाते हैं। त्याग का उत्कृष्ट नमूना है अनगार वृत्ति।

आधुनिक मनोविज्ञान के प्रवर्तक फ्रायड के अनुसार प्राणी की मौलिक वृत्ति है 'काम'। भगवान महावीर की दृष्टि मे प्राणी की मौलिक वृत्ति है लोभ—परिग्रह। 'काम' को कामना के रूप मे स्वीकार करें तो दोनो विचारो मे सवादिता हो सकती है। आधुनिक मनोविज्ञान ने इस क्षेत्र मे नई खोज की है। उसकी मान्यता से प्राणी की मौलिक वृत्ति है अधिकार की भावना। छोटे से छोटे प्राणी मे अपने घर के प्रति प्रबल अधिकार की भावना होती है। उसको त्याग देना कठिन काम है। जैन मुनि का आदर्श है—निर्ग्रन्थता, अकिचनता। उसकी साधना के लिए वह सबसे पहले इसी अधिकार-वृत्ति पर प्रहार करता है। अगार (घर) को त्याग अनगार बन जाता है।

वृत्ति-परिष्कार की यात्रा मे बहुत ही अर्थवान बन जाता है अनगार शब्द।

० जैन मुनियो का जीवन-व्रत है—पदयात्रा। वे जब अपना सामान कधो पर लिए, नगे पाव, गाव-गाव और नगर-नगर मे धर्म की महाज्योति लिए पहुंचते हैं तो लगता है श्रमण-सस्कृति का परम पुरुषार्थ देह-धारण कर अज्ञान और आलस्य के तमस को समाप्त कर रहा है।

० जैन-मुनि भिक्षा-जीवी होते हैं। उनकी भिक्षा विधि को गोचरी या माधुकरी वृत्ति कहते हैं। वे एक ही घर से भिक्षा नही लेते। अनेक घरों से थोडी-थोडी भिक्षा लेते हैं, जिससे उनका काम भी चल जाए और गृहस्थ को भी भार महसूस न हो। वे गृहस्थ के लिए जो सहज निर्मित भोजन होता है, उसे ग्रहण कर लेते हैं। नैमित्तिक आहार नही लेते।

० वे शुद्ध सात्त्विक भोजन ग्रहण कर अहिंसात्मक तरीके से जीवन-यापन करते हैं। वे मास, अडे और मादक द्रव्यो का सेवन नही करते।

० वे गृहस्थोचित कार्यों मे भाग नही लेते।

० वे किसी राजनैतिक पार्टी का समर्थन या विरोध नही करते।

० वे सापेक्ष सहयोग लेते हुए भी पूर्ण स्वावलम्बी जीवन जीते हैं।

० वे स्वय ही हरिजन हैं और स्वय ही महाजन।

० उनकी विहार-चर्या प्रशस्त होती है। उनकी चर्या के चार ध्रुव हैं—स्वाध्याय, ध्यान, पवित्रता और तप। उनके आचार-शास्त्रीय नियम इन्ही ध्रुवो की परिक्रमा करते हैं। यह पवित्र आचार सहिता सदियो—सहस्राब्दियो से जैन श्रमण सघो को प्राणवान बनाए हुए है। यही समस्त सत-परम्परा की जीवन्तता का आधार है।

युगीन समस्याओ के सदर्भ मे जैन मुनि के आचार की एक-एक धारा का विश्लेषण करें तो हम पाएगे कि उनके प्रत्येक विधि-निषेध के पीछे गूढ़ वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहा है। इसीलिए वर्तमान के परिप्रेक्ष्य मे उसका व्यापक महत्त्व है। इसके आचरण और अनुशीलन मे समूची मानव-जाति का हित निहित है।

जैन मुनियों की पद-यात्रा और उसकी उपलब्धियां

सन्त और संस्कृति

"ईरान और टर्की के बीच घमासान युद्ध। टर्की की निरन्तर पराजय। एक दिन ईरान के सूफी सत फरिद्दुदीन तुर्कों के हाथ पड गये। जासूसी का आरोप। फासी की सजा सुनाई गई। ईरान का एक धनाढ्य सत के बराबर हीरे-जवाहरात लेकर सत को मुक्त करने की माग करता है। अनेक ईरानी सत के बदले प्राण देने को तैयार हैं। टर्की सब याचनाओ को अस्वीकार कर देता है। आखिर ईरान के शाह टर्की के सुलतान से प्रार्थना करते हैं— 'आप राज्य ले लें, पर सन्त को छोड दें।' सुलतान आश्चर्य-चकित। बात क्या है, जिस राज्य को हम पूरी ताकत के साथ लडकर भी नही पा सके, उसे आप एक 'आदमी' के बदले हमे सौंप रहे हैं ?

शाह बडी गभीरता के साथ तथ्य को अनावृत करते हुए कहते हैं— राज्य नश्वर है और सत अविनाशी। सत व्यक्ति नही होता, वह सस्कृति का प्रतीक होता है। हमने यदि सत को खो दिया तो ईरान सदा-सदा के लिए कलकित हो जाएगा।

बात सुलतान की समझ मे आ जाती है—जिस देश मे सतो का इतना सम्मान, उसे कौन पराजित कर सकता है। सत की वापसी के साथ ही दोनो देशो के मध्य युद्ध-विराम की घोषणा हो जाती है।

यह घटना-प्रसग सत-परम्परा की सार्थकता को उजागर कर रहा है।

आचार्य जिनदास महत्तर लिखते हैं—

"विविह कुलुप्पण्णा साहवो कप्परूक्खा"

सत-जन विविध कुलो मे उत्पन्न धरती के कल्पवृक्ष हैं। इससे भी आगे बढें तो लगता है, मानवता के लिए कल्पवृक्ष से भी अधिक वरदायी और महिमामय हैं सन्त।

सन्तो का न निश्चित एक वेष होता है, न देश। न एक परिवेश होता है, न कोई स्थान विशेष। वे देते हैं मानव की आध्यात्मिक चेतना को नये उन्मेष और जीवन की दिव्यता का पावन सन्देश।

वैसे सारे विश्व मे साधु-सतो की अपनी अलग ही अर्हता और उपयोगिता है, लेकिन भारतीय सस्कृति का तो प्राण-तत्त्व ही सन्त-परम्परा है।

संस्कृति की प्रतिष्ठा, प्रसार और पल्लवन के लिए भारतीय लोक-जीवन मे सदा से सन्तो की प्रतिष्ठा, वन्दना और अभिवदना होती आयी है। आज भी वह निर्मल धारा भारत की धरती के अणु अणु को आप्लावित करती हुई आगे बढ़ रही है। इसलिए भारतीयो के कोटि-कोटि अन्त करण श्रद्धा-प्रणत हैं उन अध्यात्म-प्रचेता सतो की निष्काम सेवाओ के प्रति।

सत और परिव्रजन

वैसे तो कोई भी अध्यात्म साधक जहा कही बैठकर अध्यात्म की धुनी रमाता है, वहा के पूरे वातावरण को प्रभावित करता है। उसके शारीरिक और मानसिक पवित्र विकिरणो से समग्र वायु-मडल शुद्ध होता है। उसके अन्त करण से निरन्तर प्रवाहमान प्रेम, करुणा और मैत्री की धाराए प्राणी-जगत् की समस्त चैतसिक कलुषताओ को धो डालती हैं। उनके ऊर्जाकिरण वातावरण मे ऐसे उर्जस्वल विचार-वलयो को निर्मित करते हैं, जिनमे विलयित विश्व-चेतना ज्ञान, शक्ति और आनन्द के सरोवरो मे निमग्न रह सकती है।

जगलो, पहाडो और गुफाओ मे रहकर ध्यान-साधना करने वाले ऋषि-मुनि भले ही जन-सपर्क से दूर रहे, उनका सास्कृतिक और आध्यात्मिक अनुदान किसी भी दृष्टि से कम नही कहा जा सकता। फिर भी आत्म-कल्याण के साथ-साथ जन-कल्याण के पवित्र उद्देश्य से उनका परिव्रजन भी सांस्कृतिक उन्नयन और लोक-चेतना के जागरण की दृष्टि से अतिरिक्त मूल्यवत्ता रखता है। क्योकि समाज को सामाजिक और नैतिक दायित्व का बोध कराना भी साधु-समाज का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है।

जैन मुनियो का परिव्रजन

प्राचीन काल मे सभी सत, भले ही वे जैन मुनि हो या बौद्ध-भिक्षु सन्यासी हो या फकीर, जनता को प्रतिबोध देने या अपने-अपने धर्म का प्रचार करने, पैदल ही एक गाव से दूसरे गाव घूमा करते थे। अपनी इस घुमक्कड वृत्ति के कारण ही वे परिव्राजक कहलाते थे। किन्तु कालान्तर मे परिव्रजन गौण हो गया। अधिकाश साधु-सन्यासी मठो, मन्दिरो, आश्रमो और उपाश्रयो मे नियत-वासी हो गए। उनकी सुविधावादी मनोवृत्ति ने अथवा युगीन अपेक्षाओ ने यान-वाहनो के उपयोग को स्वीकृति दे दी। किन्तु जैन मुनियो ने अपने पद-यात्रा-क्रम को कभी उपेक्षित नही किया। सुख-सुविधाओं की प्रवाह किए विना, घोर कष्ट सहन कर जन-कल्याण के लिए अपने आपको समर्पित कर देने वालो मे जैन श्रमणो का स्थान अग्रणी है।

पद-यात्रा क्यो ?

जैन मुनि अपरिग्रह के महान् व्रती होते हैं। इसलिए अकिंचन

होते हैं। अकिचन के लिए अनिकेतन होना जरूरी है और अनिकेतन के लिए परिव्रजन। इसलिए वे नियतवासी न बनकर परिव्रजन करते रहते हैं। जैन मुनियो के लिए प्रयुक्त 'अनगार' शब्द से उनकी यही अनिकेतता ध्वनित होती है।

जैन मुनि पूर्ण अहिंसक होते हैं। अत वे सूक्ष्म से सूक्ष्म प्राणी की हिंसा का वर्जन करते हैं। जैन-दर्शन के अनुसार पृथ्वी, पानी, अग्नि, हवा और हरियाली—ये सारे सूक्ष्म जीवो के पिंड हैं। जैन मुनि इनकी हिंसा से उपरत रहते हैं। वाहनो का प्रयोग करने से उक्त सूक्ष्म-कायिक जीवो की हिंसा से बचा नही जा सकता। स्थूल जीवो मे भी कीडे-मकोडो से लेकर मनुष्य तक न जाने कितने प्राणी वाहनो की अन्धी दौड मे कुचल दिए जाते हैं। सूक्ष्म जीवो की हिंसा से भी उपरत रहने वाले अहिंसा-व्रती मुनि ऐसी स्थूल हिंसा के निमित्त भी कैसे बन सकते हैं ?

पाव-पांव चलते हुए भी जैन मुनि ईर्या-समिति—गति-शुद्धिपूर्वक चलते हैं—पथ को देखते हुए चलते हैं, ताकि उनके चलने से पथ-गत सूक्ष्म या स्थूल जीवो का हनन न हो। वाहन से चलते हुए मुनि ईर्या-समिति का पालन नही कर सकते। उसके अभाव मे उनका अहिंसा महाव्रत खडित होता है। अत अहिंसा महाव्रत का सम्यक् पालन करने के लिए जैन मुनि वाहन का प्रयोग नही करते।

निष्कर्ष की भाषा मे जैन मुनि अहिंसक और अकिंचन—दोनो होते हैं, इसलिए वे पद-यात्रा करते हैं।

पद-यात्रा आगमिक विधान

जैन तीर्थंकरो या मुनियो की चर्या का जहा भी वर्णन आता है, उनके लिए यह विशेष उल्लेख मिलता है—

'गामाणुगाम दूइज्जमाणे, सुहसुहेण विहरमाणे—एक गाव से दूसरे गाव घूमते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए ।' जैन मुनियो के लिए कही एक जगह आश्रम बनाकर बैठने का उल्लेख किसी भी प्राचीन और मौलिक ग्रन्थ मे उपलब्ध नही होता।

आगम कहते हैं—"मुनि कारण के बिना एक स्थान मे न रहे।" साधु-साध्विया हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु मे विहार करते रहे। जैन मुनियो का अनियतवास प्रशस्त माना गया है। दशवैकालिक चूर्णि मे अगस्त्य स्थविर लिखते हैं—" ˙ ण णिच्च मेगत्थ—वसियव्व किन्तु विहरितव्व"—मुनि नित्य एक स्थान मे न रहे, अपितु विहार करते रहे।

विहार की दृष्टि से वर्ष को दो भागो मे बाटा गया है—वर्षाकाल और ऋतुबद्धकाल। वर्षाकाल में मुनि एक स्थान मे चार मास तक रह

सकता है और ऋतु-बद्ध-काल मे एक मास। जैन मुनि के लिए चतुर्मास का काल एक स्थान मे रहने का उत्कृष्ट काल है। ऋतुबद्ध-काल मे एक स्थान मे रहने का उत्कृष्ट समय एक मास है। साध्विया एक स्थान मे दो मास तक भी रह सकती हैं। चिकित्सा आदि के अपवादो को छोडकर जिस स्थान में साधु-साध्विया एक बार उत्कृष्ट समय तक रह चुके होते हैं वहा पुन रहने के लिए समय की निश्चित मर्यादाए की गई हैं।

जैन मुनियों की यात्रा के दो रूप हैं—अन्तर्यात्रा और बहिर्यात्रा। पहली चेतना के स्तर पर घटित होती है और दूसरी का सम्बन्ध है बाह्य-परिवेश से। अन्तर्यात्रा मे अन्तश्चेतना अन्तर्जगत् की अन्वेषणा करती है। और बाह्ययात्रा मे होता है—धर्म प्रचारार्थ जन-सपर्क का विस्तार। जैन-मुनि इन दानो ही यात्राओ के माध्यम से जीवन और जगत् के सूक्ष्म, जटिल एव बहुआयामी पहलुओ को समग्रता से जानने-समझने का प्रयत्न करते हैं।

पद-यात्रा का आग्रह क्यो ?

आज के बौद्धिक वर्ग का एक ज्वलत प्रश्न है कि कुछ ही क्षणो में समग्र विश्व की परिक्रमा करने वाले द्रुतगामी यान-वाहनो के उपलब्ध होते हुए भी पद-यात्रा का आग्रह कहा तक उचित है ? क्या इससे समय और शक्ति का अपव्यय नही होता ?

प्रश्न अवश्य चिंतनीय है। किन्तु अपनी लम्बी-लम्बी यात्राओं के माध्यम से विश्व-भ्रमण के नए कीर्तिमान स्थापित करना ही यदि जैन-श्रमणो का उद्देश्य होता तो इस दिशा में बहुत पहले ही कोई क्रातिकारी कदम उठाया जा सकता था, लेकिन जैन-मुनियो का विहार तो वही तक अनुमत है, जहा तक उनकी साधना अक्षुण्ण रहे। उनके परिव्रजन से ज्ञान दर्शन और चारित्र-सम्पदा की अभिवृद्धि हो। अपने व्रतो को उपेक्षित कर मात्र जनकल्याण को प्रमुखता देने को वे आत्म-प्रवचना ही मानते हैं। यान-यात्रा जहा एक ओर महाव्रतो की सूक्ष्म धाराओ के साथ असगत है वहां दूसरी ओर साधक मे 'सुविधावादी' मनोवृत्ति का बीज-वपन भी कर देती है, जो उसकी सारी साधना को ही खोखली बना सकती है।

दूसरी बात वाहनों से यात्रा करने मे वह आनन्द नही आता, जो पदयात्रा मे उपलब्ध होता है। वाहनो द्वारा तो मनुष्य ढोया जाता है। वहां उसकी स्वतन्त्रता छिन जाती है। वाहनो की निर्भरता से उसे कही अनचाहे रुकना होता है, तो कही चाहने पर भी अनेक दृश्यो और स्थलो को अनदेखा ही छोडना पडता है। प्रकृति और मनुष्य के साथ सीधा-सपर्क भी पद-यात्रा से ही सम्भव हो सकता है। पद-यात्रा मे स्व-निर्भरता के साथ अनुभूतियों मे भी प्रवणता आती है। भौगोलिक और सास्कृतिक स्थितियो के आकलन

के साथ आर्थिक और राजनीतिक स्थितियो की भी सम्यक् जानकारी मिलती है। समाज के पिछड़े और मध्यम वर्ग से व्यक्तिश सम्पर्क होने के कारण सामाजिक स्थितियो का यथार्थ रेखा-चित्र अकित किया जा सकता है। इन सब सदर्भो मे झाकने से पदयात्रा का महत्त्व सहज समझ मे आ सकता है।

परिव्रजन का उद्देश्य

जैन-मुनियो के विहार का उद्देश्य मात्र पर्यटन या विश्व-दर्शन नही होता। उनका उद्देश्य है—जन-जन की अन्तश्चेतना के साथ तादात्म्य स्थापित करना। उनकी वृत्तियो और प्रवृत्तियो का सूक्ष्मता से अध्ययन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर उनकी समस्याओ का स्थायी समाधान प्रस्तुत करना। उन्हे नियन्त्रित और सतुलित जीवन जीने की प्रेरणा देना।

जैन-मुनि पाव-पाव चल कर सूरज की तरह गाव-गाव और घर-घर मे नैतिकता और आध्यात्मिकता की रोशनी फैलाना चाहते हैं।

वे इसी धरती की मिट्टी मे चरित्रनिष्ठ और परिपूर्ण व्यक्तित्वो की फसल उगाना चाहते हैं, न कि आकाशमार्ग से किसी दिव्य-ज्योति का अवतरण। यह सब पद-यात्रा के द्वारा जन-सामान्य के साथ सम्पर्क-साधने से सहज सभव हो सकता है।

जैन-मुनि भ्रमणशील होते हैं। आज यहा तो कल वहा। न कोई स्थान, न मकान। हा वे जहा पड़ाव डालते हैं, वही उनका मकान बन जाता है। 'बताये क्या अपना नामो स्थान, जहा ठहरें, वही अपना मकान।' कितना सुख होता है इस फकीरी मे। ममत्व-मुक्ति की इस साधना मे न कोई व्यक्ति बाधक बनता है, न स्थान। इस अनियत-वास के कारण न किसी व्यक्ति के साथ उनके रागात्मक सबध जुडते हैं, न क्षेत्र-विशेष के साथ। इसीलिए वे वायुवत् अप्रतिबद्ध-विहारी होते हैं।

जिनके अपना कोई घर-द्वार नही होता, वे अनावश्यक वस्तु-सग्रह से सहज ही बच जाते हैं।

जैन-मुनि वाहन का प्रयोग नही करते, न बैठने के लिए, न भार ढोने के लिए। वे अपना सामान अपने कधो पर ही लेकर चलते हैं, इसलिए वे उतना ही सामान रखते हैं जितने की अनिवार्य अपेक्षा होती है। इससे उनका लाघव-धर्म पुष्ट होता है।

ब्रह्मचर्य की साधना मे भी पाद-विहार सहयोगी बनता है। 'आयारो' मे उल्लेख है—कदाचित् मुनि का मन वासना से आक्रात हो जाए, तो वह खाद्य सयम, आसन, कायोत्सर्ग, खडे-खडे ध्यान आदि उपायो से उसे समाहित करने का प्रयत्न करे। यदि इन समग्र उपायो से भी मन स्थिर और

आत्मस्थ न हो, तो फिर वह 'गामाणुगाम विहरेज्जा'—ग्रामानुग्राम विहार करना प्रारम्भ कर दे। मन स्वस्थ हो जाएगा।

किसी भी देश की सस्कृति का मूल रूप गावो में ही सुरक्षित रहता है। भारत की जनसख्या का अधिकाश भाग तो गावो मे ही रहता है। मुनियो के पाद-विहार से कोटि-कोटि ग्रामीण जनता लाभान्वित होती है और साकृतिक चेतना के उन्नयन के नये आयाम उपलब्ध होते हैं।

जन-जीवन मे धर्म का आलोक विखेरने के उद्देश्य से की गई जैन-मुनियो की पद-यात्राए मानव-जीवन के अवरोध, कुण्ठा और कसक को धोकर उसे अनन्त आनन्द की दिशा मे यात्रायित करती है।

जैन-मुनियो के पाद-विहार का इतिहास बताता है कि वे जहा—जिस प्रात मे गये, वहा की सभ्यता, सस्कृति और परम्पराओ का उन्होने सूक्ष्मता से अध्ययन किया। वहा के आचार, विचार, व्यवहार और लोक-जीवन मे वे घुल मिल गये। वहा की भाषा सीखी। वे उसी भाषा मे बोले और उसी भाषा मे साहित्य सृजन किया। फलत वे जहा गये, जहा रहे, वहा की जनता के साथ उन्होने आत्मीय-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। इसी-लिए उन्हें वहा-वहा की धरती को उर्वर बनाने और जैन-सस्कारो की फसल उगाने मे अभूतपूर्व सफलता मिली। भारत की विविध-प्रातीय भाषाओं मे जैन-मनीषियो द्वारा रचित साहित्य जितनी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है, उतना अन्य धर्माचार्यों या मनीषियो द्वारा लिखित उपलब्ध नही होता। जैनाचार्यों और जैन श्रमण-श्रमणियो का यह विपुल साहित्यिक अनुदान भी उनकी पद-यात्राओं की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

जैनाचार्यों की ऐतिहासिक पद-यात्राओ ने विविध सस्कृतियो के मध्य सेतु का काम भी किया है। भारत की विविध-प्रातीय जनता की भाव-धारा को आध्यात्मिक और सास्कृतिक समन्वय के धागे से जोडा है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि जैन-धर्म के सभी तीर्थंकरो का जन्म उत्तर भारत मे हुआ और उनकी वाणी को विशदरूप देने वाले अनेक महान् आचार्यों को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ भारत के दक्षिणी अचल को। भगवान् महावीर की परम्परा मे अनेक यशस्वी आचार्यों—कुन्दकुन्द, अकलक, पूज्यपाद, समन्तभद्र, विद्यानन्दि, नेमिचन्द सिद्धांत-चक्रवर्ती आदि का जन्म दक्षिण भारत मे ही हुआ था। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैन मुनि जैन-धर्म और दर्शन की दिव्य ज्योति लेकर उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक पहुचे, वहा घूम-घूमकर उन्होने अध्यात्म की अलख जगाई और महावीर-वाणी की दिव्यता से लोक-चेतना को आप्लावित किया। यह सारा श्रेय उनकी पद-यात्राओ को ही दिया जा सकता है।

जैन-श्रमणो ने अपनी पद-यात्राओ से जहा बहुत कुछ पाया है, वहा कुछ उपलब्धियो से उन्हे वचित भी रहना पडा है। चर्या के कठोर नियमो के कारण उनके विहार क्षेत्रो का परिसीमन हो गया। वे व्यापक रूप से विदेशो मे नही जा सके। इसलिए वहा जैन-धर्म का व्यापक प्रचार-प्रसार भी नही हो सका। हालाकि प्राचीन समय मे जैन श्रमण बहुत बडी सख्या मे विदेशो मे विहार करते थे, ऐसा अनेक ठोस प्रमाणो के आधार पर सिद्ध हो चुका है।

अनेक विद्वानो का अभिमत है कि भगवान् ऋषभ, अरिष्टनेमि, पार्श्व और महावीर ने अनार्य देशो मे विहार किया था। उनके शिष्य श्रमण भी भारी सख्या मे विदेशो मे घूमते थे।

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रात एव अफगानिस्तान मे विपुल सख्या मे जैन-श्रमण विहार करते थे।

ई० पू० २५ मे पाड्य राजा ने अगस्टस सीजर के दरबार मे दूत भेजे थे। उनके साथ श्रमण भी यूनान गये थे।

विद्वान् इतिहास-लेखक जो० एफ० मूर के अनुसार ईसा पूर्व इराक, श्याम और फिलीस्तीन मे जैन मुनि सैकडो की सख्या मे चारो ओर फैले हुए थे। पश्चिमी एशिया, मिश्र, यूनान और इथियोपिया के पहाडो और जगलो मे उन दिनो अगणित भारतीय साधु रहते थे। वे अपने त्याग और विद्या के लिये प्रसिद्ध थे। वे साधु वस्त्रो तक का परित्याग किये हुए थे।

यूनानी लेखक मिश्र, एबीसीनिया और इथ्यूपिया मे दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।

इस प्रकार मध्य एशिया मे जैन-धर्म या श्रमण-सस्कृति का काफी प्रभाव था। उससे वहा के धर्म भी प्रभावित हुए थे।

जावा, सुमात्रा और लका मे भी जैन-मुनियो के विहार का उल्लेख मिलता है।

इससे हम इस निष्कर्ष तक पहुचते हैं कि एक समय ऐसा था, जब हिन्दुस्तान के बाहर के देशो मे जैन-मुनि पहुचे थे और वहा जैन-धर्म का अच्छा प्रसार हुआ था। कालातर मे जैन-श्रमणो की उपेक्षा या अन्यान्य परिस्थितियो के कारण सुदूर देशों की पद-यात्राओ का वह क्रम स्थायित्व नही पा सका।

लेकिन भारत मे लगभग सभी प्रातो मे आज भी सभी जैन-सम्प्रदायों के साधु-साध्विया उसी रूप मे भ्रमण करते हैं और जन-जीवन को जागृति का सदेश देते हैं।

अणुव्रत अनुशास्ता युगप्रधान गुरुदेवश्री तुलसी ने स्वय लगभग सत्तर हजार कि. मी की पद-यात्रा कर सपूर्ण देश की आध्यात्मिक और

नैतिक चेतना को पुनर्जीवित किया है।

गुरुदेवश्री ने अपने लगभग सात सौ साधु-साध्वियो को देश के नैतिक और चारित्रिक जागरण के पवित्र अनुष्ठान के लिए समर्पित कर रखा है। वे भारत के सभी प्रातो तथा उसके पडोसी देशो—नेपाल, भूटान सिक्किम तक पहुचते हैं और जैन-धर्म तथा अणुव्रत के सदेश को घर-घर पहुचाते हैं।

गुरुदेवश्री तथा उनके शिष्य-शिष्याओ की पद-यात्रा के मुख्य उद्देश्य हैं—धर्मक्राति, धर्म-समन्वय और नैतिक-जागरण।

महान् उद्देश्य से की गई और की जा रही उनकी महान् पद-यात्राओ ने देश भर मे आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यो की पुन प्रतिष्ठा मे अद्भुत सफलता प्राप्त की है और उनके भविष्य मे सन्निहित है लोक-मगल की अनन्त-अनन्त सभावनाए।

आगम वाचना : इतिहास-यात्रा

जिन शासन का प्राण तत्व है अर्हत्-प्रवचन। अर्हत् सर्वज्ञ होते हैं, केवलज्ञानी होते हैं। उनकी ज्ञान-चेतना सर्वात्मना जागृत हो चुकी होती है। सपूर्ण जीव-अजीव जगत् अपने गुण-पर्याय धर्मों के साथ उनकी ज्ञान-चेतना मे स्पष्ट परिलक्षित होता है। सर्वज्ञता प्राप्त होते ही वे लोक-कल्याण हेतु प्रवचन करते हैं। सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अर्हतो द्वारा प्रतिपादित विशाल श्रुत के आधार पर गणधर द्वादशागी की रचना करते हैं।

भगवान् महावीर जैन-धर्म के चौवीसवें तीर्थंकर थे। कठिन अध्यात्म-साधना के पश्चात् वे सर्वज्ञ वने। सत्य का साक्षात्कार किया। जन-चेतना को जागृत करने हेतु उन्होने प्रवचन किया। इद्रभूति गौतम आदि ग्यारह गणधरो ने, जो कि उनके प्रधान अतेवासी शिष्य थे, उस अर्थ रूप मे प्रवाहित श्रुत के अजस्र-स्रोत को ग्रन्थो या शास्त्रो के रूप मे रूपायित किया। शास्त्र रचे।

अर्हत्-प्रवचन के आधार पर रचा गया आगम वाङ्मय द्वादशागी या गणि-पिटक कहलाया। वह विशाल ज्ञान-राशि आगम या श्रुत के नाम से प्रसिद्ध है। अर्हत् परम्परा के उत्तरवर्ती आचार्यों को यह अपार श्रुत-राशि विरासत के रूप मे प्राप्त होती है। ये इसका अमूल्य-निधि के रूप मे सरक्षण करते हैं।

जैन-शासन को गणधरो की अमूल्य देन है—द्वादशागी या गणि-पिटक। वैदिक परम्परा मे जो स्थान वेदो का है, बौद्ध परम्परा मे जो स्थान त्रिपिटक का है, वही स्थान जैन परम्परा मे गणिपिटक का है। भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती परम्परा मे आचार्य सुधर्मा और जवू स्वामी ये दो ही केवली हुए। उनके युग तक आगम वाङ्मय सपूर्णत सुरक्षित रहा। उनके पश्चात् छह श्रुत केवली हुए। उनमे भद्रबाहु का स्थान बहुत ऊचा है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् श्रुत की धारा क्षीण होने लगी।

जब-जब श्रुत की प्रवहमान धारा मे अवरोध उत्पन्न हुए, श्रुत विच्छिन्न हुआ, श्रमण-सघ ने श्रुत-सपन्न समर्थ आचार्यों के नेतृत्व मे श्रुत की सुरक्षा का तीव्र प्रयत्न किया। श्रुत का सकलन, सूत्र और अर्थ की विस्मृत या विच्छिन्न परम्परा का पुन सधान, ग्रन्थ-लेखन आदि-आदि माध्यमो से महान् जैनाचार्यों ने श्रुत की महान् सेवाए की।

श्रुत-सेवा के तीव्र प्रयत्नो मे मुनि-सघ के महासम्मेलन बुलाए गए और आगमो का सामूहिक वाचन किया गया। इसलिए वे प्रयत्न जैन सघ मे आगम-वाचना के रूप मे इतिहास-प्रसिद्ध हो गए। वे वाचनाए कब, किन परिस्थितियो और किन आचार्यों के नेतृत्व मे सम्पन्न हुईं, इसके सबध मे सक्षिप्त जानकारी करेंगे प्रस्तुत निबध के माध्यम से। वीर-निर्वाण की पहली सदी से लेकर वी नि के ९८० अथवा ९९३ वर्ष के मध्य आगम वाङ्मय के सकलन और व्यवस्थितीकरण की दृष्टि से पाच प्रमुख वाचनाए सपन्न हुईं।

प्रथम वाचना

प्रथम आगम वाचना वी नि की दूसरी शताब्दी (वी नि १६०) मे हुई। उस समय श्रमण-सघ का मुख्य विहार-क्षेत्र मगध, आज का बिहार प्रदेश था। मगध राज्य मे १२ वर्षों तक लगातार दुष्काल पडा। उससे श्रमण-सघ को काफी कठिनाइयो से गुजरना पडा। मुनि-चर्या की कठोरता, नियमो की जटिलता, भिक्षा की अनुपलब्धि—इन सब कारणो से अनेक श्रुतधर मुनि दिवगत हो गए, अनेक रुग्ण हो गए। श्रुतधर मुनियो का स्वास्थ्य क्षीण हुआ। स्मृति क्षीण हुई। फलत श्रुत की धारा छिन्न-भिन्न हो गई।

दुष्काल की समाप्ति पर विच्छिन्न श्रुत को सकलित करने के लिए वी नि १६० के लगभग, श्रमण-सघ के आचार्य पाटलीपुत्र (मगध) मे एकत्रित हुए। इस महासम्मेलन का नेतृत्व कर रहे थे महामनस्वी आचार्य स्थूलभद्र। उनके निर्देशन मे सभी श्रमणो ने मिलकर ग्यारह अगो का प्रामाणिक सकलन किया। बारहवा अग दृष्टिवाद किसी भी श्रमण को याद नही था। इस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता एक मात्र आचार्य भद्रबाहु बचे थे। वे नेपाल मे महाप्राण ध्यान की साधना मे निरत थे। श्रुत की इस अपूरणीय क्षति को पूरा करने प्रखर मेधावी आर्य स्थूलभद्र विशाल श्रमण-सघ के साथ नेपाल पहुचे। सघ के अनुनय भरे निवेदन को स्वीकार कर आचार्य भद्रबाहु ने स्थूलभद्र आदि श्रमणो को दृष्टिवाद की वाचना देना प्रारम्भ किया। धृतिदुर्बलता के कारण स्थूलभद्र के सिवाय पूर्व-श्रुत की आराधना मे सभी मुनि असफल हो गए। मात्र स्थूलभद्र ही चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर सके। साध्वी बहनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होने शक्ति-प्रदर्शन किया, इस प्रमाद के प्रायश्चित्त स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने उन्हे अतिम चार पूर्वों की अर्थ-वाचना नही दी। अत अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहु हुए। उनके स्वर्गवास (वी नि १७०) के पश्चात् अर्थत अतिम चार पूर्वो का विच्छेद हो गया।

दूसरी वाचना

ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य मे श्रुत-सुरक्षा का एक और प्रयत्न हुआ था कलिगाधिपति जैन सम्राट खारवेल के युग मे। हिमवत स्थविरावली के अनुसार सम्राट् खारवेल ने कुमारी पर्वत पर एक वृहत् श्रमण-सम्मेलन आयोजित किया था। इस सम्मेलन मे आचार्य महागिरि की परपरा के बलिस्सह, बोद्धलिग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य आदि दो सौ जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले श्रमण एवं आर्यसुस्थित, आर्य सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि तीन सौ स्थविरकल्पी श्रमण सम्मिलित हुए थे। आर्या पोइणी आदि तीन सौ साध्विया, भिक्खुराय, चूर्णक, तेलक आदि छह सौ श्रावक तथा पूर्णमिश्रा आदि छह सौ श्राविकाए भी सम्मिलित थी।

उक्त वृहत् सम्मेलन मे साध्वियो और श्राविकाओ की भागीदारी जैन शासन मे नारी-जाति की प्रतिष्ठा का ऐतिहासिक दस्तावेज है। इस अवसर पर श्रुत-स्वाध्याय और श्रुत-स्थिरीकरण के अतिरिक्त अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण भी हुआ।

श्यामाचार्य ने पन्नवणा सूत्र की, उमास्वति ने तत्त्वार्थ सूत्र की और स्थविर आर्य बलिस्सह ने अगविद्या प्रभृति शास्त्रो की रचना की। इस प्रकार सम्राट् खारवेल ने प्रचार-प्रसार, श्रुत-सरक्षण आदि दृष्टियो से जैन-धर्म की अद्वितीय सेवा की। जैनधर्म को व्यापक बनाने मे अपनी सत्ता और शक्ति का भरपूर उपयोग किया।

सम्राट् खारवेल को उसके कार्यों की प्रशस्ति के रूप मे धम्मराज, भिक्खुराज, खेमराज आदि सम्मान-सूचक शब्दो से सम्मानित किया गया। चक्रवर्ती खारवेल जैन-धर्म का अनन्य उपासक था। उसके सुप्रसिद्ध हाथीगुम्फा अभिलेख से भी यह उपलब्ध होता है कि उसने उडीसा के कुमारी पर्वत पर जैन श्रमणो का एक सघ बुलाया और मौर्यकाल मे जो अग विच्छिन्न हो गए थे उन्हे उपलब्ध कराया।

कलिग-चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल का शासनकाल वी नि ३०० से ३३० माना गया है, अत उक्त श्रमण-सम्मेलन भी इसी अवधि मे सपन्न हुआ था, ऐसा इतिहासविज्ञो का अभिमत है।

अनेक इतिहासकारो ने इस सम्मेलन को वाचना का दर्जा नही दिया है, फिर भी इसकी गरिमा और मूल्यवत्ता किसी भी आगम-वाचना की तुलना मे कम नही है।

तीसरी और चौथी वाचना

ये दोनो वाचनाए वी. नि ८२७ से ८४० के मध्य हुई। इस काला-

वधि मे फिर बारह वर्षीय भयकर दुष्काल पडा। इससे जन-जीवन अस्त-व्यस्त और सत्रस्त हो उठा। तपस्वी और धृति-सपन्न मुनि-सघ भी इससे अप्रभावित नही रह सका। भिक्षा का मिलना अत्यन्त कठिन हो गया। अनेक श्रुतधर आचार्यों और मुनियो ने वैभार गिरि और कुमार-गिरि पर्वत पर अनशन स्वीकार कर आत्मार्थ सिद्ध किया। कुछ मुनि सयम-जावन के निर्वाह हेतु दूर देशो की ओर चल पडे। जो रहे, वे उचित भिक्षा-वृत्ति के अभाव मे आगमो का अध्ययन, अध्यापन, ग्रहण और प्रत्यावर्तन नही कर सके। ऐसी स्थिति मे धीरे-धीरे श्रुत का नाश होने लगा। अतिशायी श्रुत तो बच ही नही सका, अगो और उपागो के सपूर्ण अर्थ के ज्ञाता मुनि नही बचे। सूत्रागम का भी बहुत बडा भाग नष्ट हो गया।

दुष्काल समाप्त हुआ। वातावरण अनुकूल बना, तब उस समय के समर्थ आचार्य स्कदिल के नेतृत्व मे मथुरा मे सामूहिक आगम-वाचना हुई। जिन-जिन श्रमणो को आगमो का जितना भाग याद था, उसका अनुसधान कर व्यवस्थित किया गया। इस प्रयत्न से कालिक सूत्रो और पूर्वगत के कुछ अशो को सकलित किया गया। यह वाचना आर्य स्कदिल के नेतृत्व तथा मथुरा में होने के कारण स्कदिली-वाचना या माथूरी-वाचना कहलाई।

इस वाचना मे मधुमित्र, गधहस्ती आदि डेढ सौ श्रमण उपस्थित थे। मधुमित्र और गधहस्ती आर्य स्कदिल के मेधावी गुरु भाई मुनि थे। परस्पर श्रुत के आदान-प्रदान द्वारा टूटी हुई श्रुत-शृखला को जोडने तथा अवशिष्ट श्रुत-सपदा के सरक्षण का भगीरथ प्रयत्न किया गया। मतातर के अनुसार उस समय तक श्रुत नष्ट नही हुआ था। वह विद्यमान था, किन्तु श्रुत के अर्थ की विस्मृति हो गई यथा आर्य स्कन्दिल के सिवाय शेष श्रुतधर मुनि दिवगत हो गए थे। अत श्रुत की अर्थ-परस्परा को चिरजीवी बनाए रखने के लिए युग प्रधान आर्य स्कन्दिल ने उस सकलित श्रुत के अर्थ की अनुशिष्टि दी। अनुयोग का प्रवंतन किया। यह अनुयोग-प्रर्वतन ही स्कन्दिली या माथरी वाचना कहलाया। गधहस्ती ने इस वाचना का पूरा विवरण लिखा। मथुरा के ओसवाल वशज सुश्रावक पोपाल ने उस विवरण समेत सपूर्ण सूत्रो को ताड-पत्र पर लिखवाकर श्रमण सघ को समर्पित किया। स्मृति-परम्परा से सुरक्षित श्रुत पहली बार लिपिबद्ध हुआ। ठीक इसी समय आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता मे श्रमण सघ वल्लभी मे एकत्रित हुआ। श्रुत का आदान-प्रदान हुआ। श्रमण बीच-बीच मे बहुत-सा श्रुत भूल चुके थे। चिंता हुई, श्रुतनिधि सपूर्णत नष्ट न हो जाए, इस दृष्टि से उस समय तक जितना श्रुत बचा था, उसे सकलित कर लिया गया। यह वल्लभी वाचना अथवा नागार्जुनीय वाचना कहलाई। देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण से भी आर्य स्कन्दिल को

अनुयोग प्रवर्तक तथा नागार्जुन को वाचक रूप मे वदना की है।

पांचवी वाचना

माथुरी और बल्लभी वाचना के १५९ वर्ष पश्चात् यानी वी नि ९८० मे देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे पुन श्रमण-सघ एकत्रित हुआ। देवर्द्धिगणी श्रुत-रत्नो के धारक युग प्रभावक आचार्य थे। वे एक पूर्व के ज्ञाता थे। उन्होने अनुभव किया—स्मृति दौर्बल्य श्रुत-परावर्तन का अभाव, गुरु-परम्परा की विच्छित्ति इत्यादि कारणो से श्रुत की धारा अत्यत क्षीण हो रही है। पूर्व श्रुत वह अथाह अपार ज्ञान राशि है जिसके लिए कहा जाता है कि सपूर्ण पृथ्वी को कागज और मदराचल को लेखनी बना लिया जाये तो भी उस ज्ञान का लेखन सभव नही, उस अमेय ज्ञान-सपदा क श्रमण अपनी स्मृति-परम्परा से सुरक्षित रखते थे। आर्य देवर्द्धिगणी समयज्ञ थे। उन्होने देखा, अनुभव किया कि अब समय बदल गया है, स्मृति के आधार पर श्रुत को सुरक्षित रखना सभव नही है। श्रमणो की स्मरण-शक्ति उत्तरोतर क्षीण होती जा रही है। समय रहते यदि श्रुत-सुरक्षा का उचित उपाय न खोजा गया तो उसे बचाना कठिन है। इसी चितन के आधार पर देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के नेतृत्व मे श्रमण-सघ पुन मथुरा मे एकत्रित हुआ। उपलब्ध कठस्थ श्रुत के आधार पर विछिन्न आगम-वाङ्मय को व्यवस्थित किया गया। यह वी नि की दसवी सदी की महत्त्वपूर्ण आगम-वाचना थी। आगम-साहित्य को स्थायित्व देने की दृष्टि से उनके निर्देशन मे आगम-लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ। उस समय माथुरी और बल्लभी दोनो ही वाचनाए उनके समक्ष थी। दोनो परम्पराओ के प्रतिनिधि आचार्य एव मुनिजन भी उपस्थित थे। देवर्द्धिगणी ने माथुरी वाचना को प्रमुखता प्रदान की और वल्लभी-वाचना को पाठातर के रूप मे स्वीकार किया। माथुरी-वाचना के समय भी आगम ताड-पत्रो मे लिखे गये थे, पर इस दिशा मे जो सुव्यवस्थित कार्य देवर्द्धिगणी ने किया, वह अपूर्व था।

> **वलहीपुरम्मि नयरे, देवढ्ढिइय महेण समण-सघेण ।**
> **पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसय-असी सयाओ वीराओ ।।**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रमण-सघ ने आचार्य देवर्द्धिगणी की निश्रा मे वी नि ९८० मे वाङ्मय को पुस्तकारूढ़ किया था। उनके इस पुनीत प्रयत्न से आगम-ज्ञान की धारा सुरक्षित रही। उत्तरवर्ती परम्परा उपकृत हुई।

आज जन शासन मे जो आगम-निधि सुरक्षित है, उसका श्रेय देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के दूरदर्शिता पूर्ण सत्प्रयत्नो को ही हे। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान महावीर के सत्ताईस पाट तक आचार-विचार की

शुद्ध परपरा रही थी। श्री देवर्द्धिगणी सत्तावीसवें आचार्य हुए हैं। अत श्वेताम्वर आम्नाय की सभी शाखा-प्रशाखाओ के लिए वे नमस्य हैं। उनके प्रयत्न प्रणम्य हैं। यह हुई आगम-वाङ्मय की सुरक्षा के उपायो की चर्चा। जैन समाज ही नही, पूरा अध्यात्म जगत् उन आचार्यों का ऋणी है, जिन्होने श्रुत-ज्ञान की मशाल को समय के उस नाजुक दौर मे भी अपनी श्रद्धा की ओट मे रखकर बुझने से उवार लिया, जब परिस्थितियो का झझावात उसे बुझाने की पूरी तैयारी मे था।

पाठको के मन मे एक प्रश्न जरूर उठ रहा होगा कि पुस्तकारूढ़ तो दसवी शताब्दी मे किया गया। इससे पूर्व ज्ञान की इस विशाल थाती को मात्र कठाग्र रखकर या स्मृति-कोष्ठको मे भरकर कैसे सुरक्षित रखा गया? इस प्रश्न का समाधान शरीर-शास्त्रीय और परा-मानस शास्त्रीय अध्ययन से स्पष्ट हो सकता है। आधुनिक खोजो ने यह सिद्ध कर दिया है कि मानव मस्तिष्क शक्ति का अक्षय कोष है। उसमे ऐसे तत्त्व निहित हैं जिनके आधार पर बीस अरब पृष्ठो से भी अधिक ज्ञान-भडार को सुरक्षित रखा जा सकता है। कुछ वैज्ञानिको ने यहा तक घोषणा की है कि मनुष्य-मस्तिष्क मे इतने स्मृति-प्रकोष्ठ हैं, जिनमे समग्र विश्व का साहित्य सगृहित किया जा सकता है। दुनिया के सभी पुस्तकालयो का ज्ञान भरा जा सकता है। किन्तु देश, काल आदि परिस्थितियो की प्रतिकूलता ने मानवीय मस्तिष्क की उन क्षमताओ पर तीव्र प्रहार किया, जिससे स्मृति क्षीण हुई और उसके साथ प्रवाहित होने वाली ज्ञान-गगा की धारा भी सिमटने लगी। सर्वनाश के उन क्षणो मे भी जिन्होंने अद्वितीय आत्मविश्वास के साथ आगम-वाङ्मय के प्रकाश को बचाया, श्रुत की स्रोतस्विनी के सवाहक वने, वे महान् आचार्य जैन-शासन मे अभिनदनीय वन गए। उनके सान्निध्य मे सपन्न होने वाली आगम-वाचनाए इतिहास की अमर गाथाए वन गई।

वर्तमान में युगप्रधान वाचना-प्रमुख गणाधिपति गुरुदेव तुलसी और आचार्यश्री महाप्रज्ञ के नेतृत्व मे आगम-सपादन का अद्भुत कार्य हो रहा है। यह भी अपनी कोटि की अपूर्व वाचना है। इस वाचना का क्रम चालू है। अथाह आध्यात्मिक ऊर्जा के महास्रोत गुरुदेव श्री तुलसी और भारतीय मनीषा के शिखरपुरुष आचार्यश्री महाप्रज्ञ के प्रखर पुरुषार्थ के साथ उनके अनेक प्रवुद्ध शिष्य-शिष्याओ के श्रम से सपादित आडगम वामय, निष्पक्ष दृष्टि से निर्धारित शुद्ध पाठ, सस्कृत रूपातरण, आधुनिक हिन्दी अनुवाद तथा विस्तृत पाद-टिप्पणो के साथ जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित होकर जव विद्वानो के हाथो मे पहुचा तो उन्होने इसे वीसवी सदी की महान् उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया। आगम-सपादन के इस महान् अनुष्ठानो को निर्विवाद रूप से 'पाचवी आगमवाचना' कहा जा सकता है।

वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष जैन सम्राट् चेटक

वैशाली गणराज्य

महावीर के युग मे उत्तर-भारत मे राजतत्रीय और गणतत्रीय दोनो प्रकार की सत्ताए विकसित हो चुकी थी। वत्स, अवन्ती, मगध और कौशल—ये उस समय के राजतत्रीय या एकतत्रीय राज्य थे। उनकी शक्ति अपरिमित थी। वे साम्राज्यवाद की बलवती भावना से ओत-प्रोत थे। इनके अतिरिक्त अन्यान्य सभी सभागो मे गणराज्य या सघराज्य स्थापित थे। ये गणराज्य राजतत्रवाद के प्रबल विरोधी थे। यद्यपि इनकी शासन-प्रणाली पूर्णत जनतत्रात्मक नही थी, किन्तु उसे वर्तमान की जनतत्रीय प्रणाली का आदि रूप मानें तो कोई आपत्ति नही होगी। वैशाली गणतत्र के सचालक सदस्यो की विशाल सख्या के आधार पर प्रतीत होता है कि यह पूरे राष्ट्र के प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी। इस माने मे वह जनतत्रात्मक सभा थी। लेकिन वर्तमान शासन-प्रणाली के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलता है कि उस युग के गणराज्य न तो पूरे एकतत्रीय राज्य थे, न पूरे प्रजातत्रीय। उसके प्रतिनिधि जनता द्वारा चुने गए व्यक्ति नही होते थे। अपितु कितने ही कबीले मिलकर उसका सचालन करते थे।

कात्यायन के अनुसार गणराज्य वह शासन-प्रणाली है जिसको एक विशिष्ट क्षत्रीय वर्ग सचालित करता है। अत जनतन्त्र का अन्तर स्पष्ट हो जाता है कि जनतत्र अथवा वर्तमान भारत का गणतत्र जहा जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियो का शासन है वहा प्राचीन गणराज्य विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्तियो द्वारा सचालित होते थे।

वैशाली गणराज्य के सविधान के आधार पर आधुनिक विद्वानो का यह अभिमत पुष्ट हो रहा है कि तत्कालीन गणो मे कुलीन-तत्रात्मक राज्य-व्यवस्था थी। फिर भी उक्त गणराज्य प्रजातत्र के अधिक अभिमुख थे।

उल्लिखित गणो मे राजनैतिक रूप से सबसे प्रसिद्ध गण वज्जियो (लिच्छवियो) का था। वह नौ सम्मिलित कबीलो का एक शक्तिशाली सघ था। वह सघ गणतत्रीय विचारो का प्रमुख केन्द्र था। इस जाति को अपनी इस विशिष्ट राजनैतिक व्यवस्था पर गौरव था। अपनी प्रभुता की सुरक्षा के लिए इसे समय-समय पर महान् वलिदान भी करने पडे थे।

संथागार और चेटक

लिच्छवी क्षत्रियो द्वारा शासित वज्जिसघ उस युग का एक आदर्श

और प्रख्यात गणतन्त्रीय राष्ट्र था। उसका विधि-विधान आज की जनतन्त्रीय प्रणाली से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। जनता या नागरिको के प्रतिनिधि राजा कहलाते थे। उनका स्थान वर्तमान के ससद-सदस्यो—विधायको के समकक्ष था। वे वैशाली के सथागार मे बैठकर गणतन्त्रीय पद्धति से राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समस्याओ पर विचार-विमर्श करते थे। गणराज्य की सचालन-विधियो के मुख्य केन्द्र सथागार होते थे। वे प्रमुख नगरो मे होते थे। गण-भवनो मे केन्द्रीय अधिवेशन होते थे। यह सथागार वस्तुत लोकसभा का ही पूर्व रूप कहा जा सकता है।

सथागारो मे पारित अधिनियमो को ही राजा तथा मन्त्रीमडल क्रियान्वित करता था। राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, नागरिक, सामाजिक, आर्थिक आदि सभी समस्याए यही सुलझाई जाती थी।

भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उनमे से एक थे, ऐसा कई इतिहासकार मानते हैं। वे सभी सदस्य अपने क्षेत्र के प्रतिनिधि होते थे, जो उन-उन क्षेत्रो के अधिपति घोषित किए जाते थे। उन सभी सदस्यो की एकता और प्रेम अनुकरणीय था। वे परस्पर किसी को हीन या उच्च नही मानते थे। सभी अपने आपको अहम राजा मानते थे। वैशाली मे इनके अलग-अलग प्रासाद, आराम आदि थे। इन राजाओ की शासन-सभा सघ-सभा कहलाती थी। इनका गणतन्त्र वज्जी सघ या लिच्छवी सघ कहलाता था। इस सघ मे ९-९ लिच्छवियो की दो-दो उप-समितिया थी। एक न्याय-कार्य सभालती थी और दूसरी परराष्ट्र-कार्य को। इस दूसरी समिति ने मल्लवी, लिच्छवी और काशी-कोशल के गण राजाओ का सगठन बनाया था, जिसके अध्यक्ष थे महाराज चेटक।

राज्याध्यक्ष बनाम धर्माध्यक्ष

जैन इतिहास मे महाराज चेटक को अत्यन्त गौरवपूण स्थान प्राप्त है। भारतीय जन-मानस मे आज भी उनके प्रति आदर के भाव हैं। वह इसलिए नही कि महाराज चेटक तीर्थंकर महावीर के मामा थे या बहुत बड़े शासक थे, अपितु इसलिए कि एक शासक के सम्मानपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होते हुए भी उनका जीवन अध्यात्म से अनुप्राणित था। वे सत्ता के बल पर धम-नीति पर छाए नही, अपितु उन्होने राजनीति को धमनीति के अनुसार सचालित किया। उन्होने अपने गणतन्त्र को जैन सिद्धातो की प्रयोग-भूमि बनाया। मानवीय एकता, वैचारिक स्वतन्त्रता, समता, सद्भावना और सहअस्तित्व के सिद्धातो को उन्होने व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

वे अपने युग के ऐतिहासिक व्यक्ति थे। वे महावीर के परम भक्त और दृढ़धर्मी उपासक थे। उनकी धार्मिकता और महत्ता की छाप पूरे परि-

वार पर थी। उनका सारा परिवार जैन दर्शन और सिद्धातो के प्रति आस्थावान् था। उनके सात कन्यायें थी जो परम विदुषी और आदर्श नारिया थी।

वे अपने पिता के आदर्श सस्कारो मे ढली हुई थी। राजा चेटक की यह प्रतिज्ञा थी कि वह अपनी कन्याओ को साधर्मिक राजाओ के साथ ही ब्याहेगा। उन्होने उस युग के प्रख्यात राजाओ के साथ अपनी सुसस्कारी पुत्रियो को ब्याहा। उनमें से—

१. प्रभावती—वीतभयपुर (सिधु सौवीर के) के राजा उदायन को
२ पद्मावती—अगदेश के राजा दधिवाहन को
३ मृगावती—वत्सदेश के राजा शतानीक को
४ शिवा—उज्जैनी नरेश चण्डप्रद्योत को
५ ज्येष्ठा—महावीर के भ्राता नन्दीवर्धन को
६ चेलना—मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार को ब्याही गई थी।

एक कन्या सुज्येष्ठा महावीर के सघ मे दीक्षित हो गई।

यद्यपि सम्राट् श्रेणिक पहले जैन नही था, लेकिन वह उस शक्तिशाली गणतत्र के सर्वोच्च नेता के साथ स्थायी मैत्री सबध स्थापित करना चाहता था। इधर चेटक की पुत्रियो की सर्वगुणसम्पन्नता सर्वत्र सुविश्रुत थी।

श्रेणिक ने राजा चेटक के पास उसकी पुत्री से विवाह करने का प्रस्ताव भेजा। राजा चेटक ने वह स्वीकार नही किया। क्योकि वह अपने प्रण के अनुसार किसी विधर्मी नरेश को अपनी पुत्री नही दे सकता था। सम्राट् श्रेणिक ने फिर छल-बल से उनकी सबसे छोटी पुत्री चेलना को पाया, जिसे एक आदर्श नारी, दृढ श्रद्धालु और तत्त्वज्ञा श्राविका के रूप मे जैन सघ मे गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। वैसे चेटक की सभी पुत्रिया अपने समय की विख्यात नारिया हुई हैं।

जैन परम्परा मे जिन १६ आदर्श नारियो का वर्णन आता है, वे सोलह सतियो के नाम से जानी जाती हैं। उनमे से चार तो महाराज चेटक की पुत्रिया ही थी, जिनके नाम हैं—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती और शिवा।

महाराज चेटक का साम्राज्य वैशाली गणतत्र के नाम से प्रसिद्ध था। उनके गणतत्र की अपनी विरल विशेषताए थी। गण के सभी सदस्यो मे मतैक्य, सौहार्द, परस्पर आदर के भाव, अपने सिद्धातो के प्रति दृढता आदि की भावना प्रवल थी। उनमे राष्ट्रीयता की भावना अद्वितीय थी। महात्मा बुद्ध ने इनकी सहिष्णुता की बहुत प्रशसा की है।

चेटक के दस पुत्रो मे से 'सिह' वज्जी सघ के प्रधान सेनानायक थे। राजा चेटक बारहव्रती श्रावक थे। वे दृढ प्रतिज्ञ थे। समरागण मे भी उन्हे

निहत्थे पर वार न करने का और एक दिन मे एक से अधिक बाण न चलाने का सकल्प था, जिसका पालन उन्होने घोर आपत्कालीन स्थिति मे भी किया।

अपने दौहित्र कूणिक के साथ महाराज चेटक का भीषण सग्राम हुआ, जो रथमूसल सग्राम या महाशिला-कटक सग्राम के नाम से इतिहास मे प्रसिद्ध है। उस परिस्थिति मे भी वे अपने व्रतो की कठिन कसौटी पर खरे उतरे। प्रण की सुरक्षा के लिए उन्होने अपने प्राणो का बलिदान कर दिया। कवि की ये पक्तिया कितनी सार्थक हैं—

प्रण करना है सहज;
कठिन है लेकिन उसे निभाना,
सबसे बडी जाच है, व्रत का
अन्तिम मोल चुकाना।
अन्तिम मूल्य न दिया अगर तो
और मूल्य देना क्या ?
करने लगे मोह प्राणो का
तो फिर प्रण लेना क्या ?

उस प्रलयकर युद्ध मे भी महाराज चेटक तथा उनके विभिन्न सेनापतियो ने जिस अहिसा-निष्ठा और विवेक का परिचय दिया, उससे जैन धर्म के सिद्धात, अहिसा और जैन धर्मावलम्बियो के प्रति जो भ्रात धारणाए पनपी हुई हैं, उनका स्वत निराकरण हो जाता है। महाराज चेटक का व्यक्तित्व एक महान राजनयिक शक्ति के साथ-साथ वर्चस्वी अहिसक योद्धा के रूप मे अभिव्यक्त होता है। उन्होने यह सिद्ध कर दिया कि—

- धर्म व्यक्ति को सामाजिक और नैतिक दायित्वो से विमुख नही करता।
- अहिसा कायरता नही, अपितु प्राण-विसर्जन की तैयारी मे सतत जागरूक पौरुष है।
- अहिसाव्रती अनाक्रमण मे विश्वास रखते हैं, पर वे अनाक्रमण की क्षमता से शून्य नही होते। हा, वे अपनी शक्ति का मानवीय हितो के विरुद्ध प्रयोग नही करते।
- उनके सामने युद्ध की अनिवार्य-स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है तो फिर वे अपने दायित्व से पीछे भी नही हटते हैं।

महाराज चेटक के गणराज्य मे जैनधर्म का समुचित प्रसार हुआ था। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् महावीर के निर्वाण के समय वहीं पौषध किये हुए थे।

महान् जैन नरेश : मगध सम्राट् श्रेणिक

श्रेणिक जैन थे या बौद्ध ?

महावीरकालीन चार राजतत्रीय राज्यो मे मगध साम्राज्य सर्वाधिक शक्ति-सपन्न था। उसके शासक थे सम्राट् श्रेणिक। हिन्दू, बौद्ध और जैन—इन तीनो ही भारतीय धर्म-परम्पराओ मे उनका उल्लेख है। सभी सम्प्रदायो द्वारा उन्हे अपने धर्म का अनुयायी घोषित किया गया है, बौद्ध साहित्य मे तो उनके बौद्ध होने के इतने सबल प्रमाण उपलब्ध हैं कि सहसा उन पर विश्वास हुए बिना नही रहता। लेकिन ऐतिहासिक छान-बीन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट् श्रेणिक पितृ-परम्परा से ही जैन थे। हो सकता है, अपने निर्वासन-काल मे वे किसी अन्य सम्प्रदाय के सम्पर्क मे गये हो, उससे प्रभावित हुए हो, और जैन-धर्म के प्रति उदासीनता रखने लगे हो। सभवत उसी उखडी हुई आस्था को जैन-धर्म मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिए ही महारानी चेलना को भारी प्रयत्न करने पडे थे। वह सम्प्रदाय "बौद्ध" भी हो सकता है, कोई अन्य भी। लेकिन सिवाय इसके कि वे बौद्ध धर्म से भी सहानुभूति और सौहार्द रखते थे, कोई भी पुष्ट प्रमाण नही मिलता, जिससे उन्हे बौद्ध माना जा सके। हा, यह तो हर जन-प्रिय शासक के लिए अनिवार्य होता है कि वह सब धर्मों का आदर करे और सबको फलने-फूलने का अवसर दे। इसके विपरीत ऐसे अनेक-अनेक प्रमाण तथा उल्लेख जैन ग्रथो मे उपलब्ध हैं, जिनके आधार पर उनका जैन होना तो निर्विवाद सिद्ध हो ही जाता है, साथ ही साथ उनके द्वारा दी गई जैन-धर्म की अपूर्व सेवाओ की भी अवगति मिलती है। उनका वैदिक पुराणो मे विधिसार, बौद्ध पिटको मे बिम्बसार और जैन-साहित्य मे श्रेणिक भभासार के नामो से समुल्लेख हुआ है। उनके पिता का नाम हिंदू पुराणो मे शिशुनाग या शैशुनाक तथा बौद्ध ग्रन्थो और जैन अनुश्रुतियो मे उपश्रेणिक मिलता है।

श्रेणिक के कुमारकाल मे ही उनके पिता ने किसी कारण से कुपित होकर उन्हें राज्य से निर्वासित कर दिया था। निर्वासन-काल मे उन्होने देशाटन कर देश-देशान्तरो के अनुभव प्राप्त किए। इसी काल मे वे सभवत कतिपय जैनेतर साधुओ के सपर्क मे गए। उनके भक्त बने और जैन-धर्म से विद्वेष भी करने लगे, किंतु थोडे ही समय मे उन्होने अपने दृष्टिकोण और जीवन की दिशा को मोड लिया था। वे महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के पूर्व ही पुन जैन बन गये थे।

अपने ज्येष्ठ भ्राता चिलाती-पुत्र के जैन श्रमण बन जाने के पश्चात् लगभग ई०पू० (५८७-८८९) मे वे मगध-सिंहासन पर आरूढ हुए। चेटक-सुता चेलना श्रेणिक की अग्रमहिषी थी। अनुश्रुतियो के आधार पर चेलना से विवाह के समय श्रेणिक बौद्ध धर्म से प्रभावित थे। इसलिए प्रमुख जैन श्रावक चेटक ने अपनी प्रतिज्ञानुसार अपनी कन्या को एक विधर्मी राजा को देने से इन्कार कर दिया। लेकिन श्रेणिक ने छल-पूर्वक चेलना को प्राप्त कर लिया। चेलना की जैन-धर्म के प्रति अनन्य आस्था थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। तथा सम्राट् ने उसे बौद्ध धर्म के रग मे रगना चाहा। पर कोई किसी को झुका नही सका। एक दिन सम्राट् ने महानिर्ग्रंथ अनाथी को ध्यान-लीन देखा। निकट गया। वार्तालाप किया और अन्त मे जैन बन गया। उसके पश्चात श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध जुड गया।

जैन धर्म के प्रति पुन आस्था

सभवत भगवान् महावीर के कैवल्य-लाभ से पूर्व ही श्रेणिक की आस्था पुन जैन धर्म मे केन्द्रित हो गई थी।

जैन आगमो के अनुसार उनके जैन धर्म से प्रभावित होने का निमित्त बना था—जैन मुनि अनाथी का प्रथम सपर्क।

वन-क्रीडा के लिए गये हुए श्रेणिक ने "मण्डिकुक्षि" नामक रमणीय उद्यान मे एक तरुण जैन श्रमण को देखा। उनका शरीर सुकोमल था। आकृति भव्य थी। मुख से असीम सौम्यता और शाति टपक रही थी। वे एक वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा मे बैठे थे। ज्योही उन तरुण श्रमण पर दृष्टि टिकी, मगध-सम्राट् के मुख से अनायास शब्द मुखरित हुए—

> **अहो वण्णो अहोरूव, अहो अज्जस्स सोमया।**
> **अहो खन्ती अहो मुत्ती, अहो भोगे असगया॥**

कैसा वर्ण? कैसा रूप? इस आर्य की कैसी सौम्यता? कैसी क्षमा? कैसा त्याग? कैसी इनकी भोगनिस्पृहता?

मुनि के आकर्षण से आकृष्ट श्रेणिक उनके निकट गये और आश्चर्य भरी वाणी से पूछने लगे—

आर्य! आप तो अभी तरुण हैं, अत अभी तो आपके भोगोपभोग का समय है। यह विराग का नही, अनुराग का समय है। त्याग का नही, भोग का समय है। योग का नही हर विषय के प्रयोग का समय है। मुझे आश्चर्य होता है, इस जवानी मे भी आप क्यो सन्यासी बन गये हैं। मुनि ने कहा—"राजन्! मैं अनाथ था।"

राजा—"आप जैसे बुद्धिमान भी अनाथ? आइए—आज से मैं

आपका नाथ बनता हू । छोडिये इस कष्ट-साध्य साधना और कठिन तपस्या को । ससार मे प्रवेश करें और जीवन का सही आनन्द लूटें । मुनि – "राजन् ! आप स्वय भी अनाथ हैं । फिर कैसे बनेंगे मेरे नाथ ?" सम्राट् श्रेणिक आश्चर्य मे डूब गये । वे समझ नही रहे थे मुनि की रहस्य-भरी बात । मेरे जैसा अपार विभुता का स्वामी भी यदि अनाथ होगा तो फिर दीन-दुखियो का क्या होगा ?

जिज्ञासा के स्वर मे सम्राट् ने अनाथता की परिभाषा और मुनि की अनाथता का कारण पूछा । मुनि ने कहा— 'मैं कौशाम्बी नगरी के एक धन-कुबेर पिता का पुत्र था । भरा-पूरा परिवार था । सुख-समृद्धि का सागर लहरा रहा था । एक बार मेरी आखो मे भयकर पीडा और शरीर मे दाह-ज्वर उत्पन्न हो गया । हर सभव उपचार असफल होता गया । पिता मेरे लिए सब कुछ न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत थे । फिर भी मुझे रोग-मुक्त नही कर सके । ममतामयी मा, सगे भाई-बहिनें तथा प्राणप्रिया पत्निया भी गीली पलको से मेरी ओर निहारती रहीं, पर कोई भी उस असह्य पीडा से मुझे नही उबार सका । राजन् ! यह मेरी अनाथता थी । इस प्रकार मैंने स्वय को सब तरह से अनाथ पाकर अन्त मे धर्म की शरण ली । मैंने दृढ सकल्प किया—"यदि इस व्याधि से मुक्त हो जाऊ तो अनगार धर्म को स्वीकार करू ।" अगले ही दिन पीडा शात हो गई, और मैं धर्म की शरण मे आ गया । स्वय स्वय का नाथ बन गया ।"

साधुत्व स्वीकार कर उसका सम्यक् पालन न करने वाले तथाकथित साधको को भी महानिर्ग्रंथ अनाथी ने अनाथ बताया । और प्रतिबोध की भाषा मे श्रेणिक से कहा – मेधाविन् ! ज्ञान-गुणोपपेत इस सुभाषित अनुशासन को सुनकर और कुशीलजनो के मार्ग का सर्वथा परित्याग कर तुम महा-निर्ग्रंथो (तीर्थंकरो) के पथ का अनुसरण करो । ऐसा कर तुम भी स्वय के नाथ बन जाओगे, अपने स्वामी बन जाओगे ।

यह सुनकर मगधराज श्रेणिक बहुत प्रसन्न हुए । अजलि-बद्ध होकर कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए उन्होने कहा—"महामुने ! आपने मुझे अनाथता का सम्यग् बोध दिया । आपका जन्म सफल है । आप ही सही अर्थ मे सनाथ और सबधु हैं । क्योकि आप सर्वोत्तम जिनमार्ग मे अवस्थित हैं । मैंने आपको विषय-भोगो के लिए निमत्रित किया । आपके ध्यान मे विघ्न उपस्थित किया । इसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हू । मै आपका अनुशासन स्वीकार करता हू ।" उसके अनन्तर मगध-सम्राट् श्रेणिक महानिर्ग्रंथ अनाथी को प्रणाम कर सबन्धु और सपरिजन धर्म मे अनुरक्त हुए ।

अनाथी निर्ग्रंथ से धर्म-बोध मिलने के पश्चात् जैन-धर्म के साथ सम्राट् श्रेणिक की घनिष्टता उत्तरोत्तर बढती गई । भगवान् महावीर के

कैवल्य-लाभ के पश्चात् उनके प्रति श्रेणिक की अनन्य भक्ति और प्रगाढ श्रद्धा के अनेक उदाहरण जैन आगम साहित्य मे उल्लिखित हैं।

जिज्ञासु श्रावक

श्रेणिक की जैन धर्म के प्रति गहरी अनुरक्ति ने जन-साधारण को प्रभावित किया। भक्ति ने भगवान् को रिझाया। राजगृह की उर्वरा धरती से उठने वाली अध्यात्म क्राति की सभावनाओ के कारण ही श्रेणिक के समय भगवान महावीर ने राजगृह मे वर्षावास विताये थे।

सम्राट् श्रेणिक उस समय प्राय नियमित रूप से समवसरण मे उपस्थित होते। व्याख्यान श्रवण करते समय उनके मानस मे जो भी जिज्ञासाए उभरती, भगवान् के सामने प्रस्तुत करते और उनका समुचित समाधान प्राप्त कर अत्यन्त आल्हादित होते।

भगवान् महावीर और श्रेणिक के अनेक सस्मरण आज भी जैन-वाङ्मय मे गुम्फित हैं। उनमे श्रेणिक का जिज्ञासु रूप प्रखरता से अभिव्यक्त हुआ है। एक जैन सम्प्रदाय की तो यहा तक मान्यता है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर से ६० हजार प्रश्न पूछे और भगवान् ने उनका समाधान किया।

भावी तीर्थंकर

एक बार सम्राट् श्रेणिक महावीर के समवसरण मे प्रवचन सुन रहे थे। एक कुष्ठी उनकी बगल मे बैठा था। उसने महावीर को देखकर कहा—"मर रे।" श्रेणिक से कहा—"जी रे।" अभयकुमार से कहा—"चाहे जी चाहे मर।" कालशौकरिक कसाई भी उधर से होकर गुजरा, कुष्ठी ने उसकी ओर सकेत कर कहा—"न मर, न जी।" यह असम्बद्ध प्रलाप सुनकर श्रेणिक के सैनिको ने उसे पकडना चाहा। पर वह देखते-देखते ही अन्तरिक्ष मे विलीन हो गया। श्रेणिक ने इस देव माया के बारे मे जानने की उत्सुकता व्यक्त की। भगवान् महावीर ने कहा—श्रेणकि यह कुष्ठी के रूप मे देवराज इन्द्र था। इसने जो कुछ कहा—यथार्थ कहा है। जैसे मुझे मरने के लिए कहा—वह इसलिए कि मेरे आगे मोक्ष है। तुझे जीने के लिए कहा – क्योकि तुम्हारे लिए आगे नरक है। अभयकुमार का यह जीवन पवित्र है। वह परम धार्मिक है और उसके लिए आगे भी सद्गति है, स्वर्ग है इस दृष्टि से उसका मरना और जीना दोनो ही शुभ हैं। कालशौकरिक का यह जीवन भी बीभत्स है और अगला भी बीभत्स होगा। वह आगे नरक मे जाएगा। इसलिए उससे कहा "न जी, न मर।" अर्थात् तेरा जीना और मरना दोनो ही अशुभ हैं। अपने नरक-गमन की बात सुनकर श्रेणिक स्तब्ध रह गये। उन्होने कहा—प्रभो! आपका भक्त होकर भी —

जाऊगा ? क्या आपकी पर्युपासना का यही फल मिलेगा ?

भगवान् ने कहा—राजन् ! ऐसा नहीं है। नरक का आयुष्य तो तूने मृगया-गृद्धि के कारण पहले ही बाध रखा है। मेरी पर्युपासना का फल तो यह है कि तुम नरक से निकल कर मेरे हो समान तीर्थंकर बनोगे। जैसे मैं इस युग का अन्तिम तीर्थंकर हू, वैसे ही तू विकासशील युग का प्रथम तीर्थंकर होगा।

यह मगल सवाद सुनकर श्रेणिक का मन उल्लास से भर गया। उसने प्रार्थना की—"भगवन् ! ऐसा भी कोई उपाय है जिससे मेरी नरक-यात्रा टल सके ?'

भगवान् ने कहा—"श्रेणिक ? यदि कपिल नाम की ब्राह्मणी दान दे, कालशौकरिक कसाई प्रतिदिन की जाने वाली ५०० भैंसो की हिंसा छोड दे और तुम पूणिया श्रावक की सामायिक-साधना खरीद सको तो तुम्हारी नरक-यात्रा टल सकती है।"

श्रेणिक के मन मे इतनी छटपटाहट लगी हुई थी अपने उद्धार के लिए कि वह हर सभव प्रयत्न करने को तैयार था। लेकिन श्रेणिक की बात न कपिला ने मानी, न कालशौकरिक ने। राजा ने अपनी सत्ता के बल पर ऐसा करवाना चाहा, पर सफलता नही मिली। कपिला ने राजाज्ञा से दान दिया, पर बिना मन के। इसलिए उसने कहा—यह दान मैं नही दे रही हू, राजा ही दे रहे हैं। कालशौकरिक को कुए मे डाल दिया गया, पर वह वहा भी मिट्टी के भैंसे बनाकर मारने लगा।

श्रेणिक अब भी निराश नही था। वह स्वय भगवान् के परम उपासक समता के विशिष्ट साधक "पूणिया" श्रावक के पास गया और कहा—महाश्रावक ! मुझे तुम्हारी एक सामायिक की आवश्यकता है, मात्र एक सामायिक की। महाप्रभु ने तुम्हारी सामायिक-साधना की बहुत सराहना की है। इसमे इतनी शक्ति है कि उसमे मेरी नरक-यात्रा टल जायेगी।

श्रावक प्रवर !

अनुग्रह करो, अपनी एक सामायिक मुझे दो और उसका जितना मूल्य हो मेरे राज्य-कोष से अदा करो। श्रावक ने मन ही मन मुस्कराते हुए कहा—नरपुगव ! जिन भगवान् ने आपको सामायिक खरीदने का निर्देश दिया है, उसका मूल्य भी वे ही बतायेंगे। जो मूल्य होगा, वह आप पूछ आइये, मैं आपको सामायिक दे दूगा। मैंने आज तक यह धधा किया नही है।

सम्राट् हर्ष से उछलता हुआ प्रभु के चरणो मे पहुचा और बोला—

भगवन् ! पूणिया श्रावक अपनी सामायिक देने को तैयार है। उसने कहा है कि सामायिक का जो मूल्य भगवान् बतायेंगे उतने मे ही हम सौदा कर लेंगे। प्रभो! बताइए सामायिक का मूल्य क्या होना चाहिये।

भगवान् ने कहा—"श्रेणिक! पूणिया श्रावक तो सामायिक देने के लिए तैयार हो गया है लेकिन उसे खरीद पाना तेरे लिए कठिन है।" श्रेणिक चौंक पडा। "भगवन्! मगध-सम्राट् के लिए भी कोई सौदा कठिन हो सकता है? प्रभो! जिस सामायिक के द्वारा मेरी नरक-यात्रा और घोर यातनाए टल सकती हैं, उसके लिए मैं मेरे सपूर्ण कोष को भी लुटा सकता हू।"

श्रेणिक! तुम अपने कोष की बात कर रहे हो, लेकिन उसकी सामायिक के सामने कोष तो क्या तुम्हारा सपूर्ण साम्राज्य भी तुच्छ और नगण्य है। तुम यदि धरती से चन्द्रलोक तक भी स्वर्ण और मणि-मुक्ताओ का ढेर लगा दो, तो भी सामायिक का मूल्य तो क्या, उसकी दलाली का मूल्य भी पूरा नही हो सकता।

यह सुनकर श्रेणिक ठगा-ठगा-सा रह गया। उसकी आशाओ पर तुषारापात हो गया। भगवान् ने प्रतिबोध की भाषा मे कहा—भौतिक ऐश्वर्य के द्वारा आध्यात्मिक आनन्द कभी खरीदा नही जा सकता। साधना के द्वारा ही उस परम तत्त्व की अनुभूति हो सकती है। दूसरी बात, साधना स्वय के द्वारा ही होती है, दूसरे की अच्छी और बुरी प्रवृत्ति दूसरे के हित और अहित का प्रत्यक्ष निमित्त नही बन सकती।

श्रेणिक! सघन कर्म के विपाक स्वरूप यह नरक-यात्रा अवश्यभाविनी है, उसे भोगना ही होगा। किन्तु तुम निराश मत बनो। आगामी चौबीसी मे तुम प्रथम तीर्थंकर बनोगे। वहा तुम्हारे और मेरे बीच की खाई समाप्त हो जाएगी।

परम धर्मानुरागी

सम्राट् श्रेणिक अपनी शक्ति के अनुसार धर्म-साधना करते ही थे। साथ-साथ दूसरो को भी इस क्षेत्र मे प्रेरित करते रहते थे। उनका साधर्मिक वात्सल्य अनुकरणीय था। मुमुक्षु और विरक्त व्यक्तियो को साधना के क्षेत्र मे उतरने और आगे बढने के लिए वे अपनी ओर से हर सभव सहयोग देते थे।

एक बार श्रेणिक ने अपने राज्य, परिवार, सामन्तो तथा मत्रियो के बीच घोषणा करवाई कि कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे रोकूगा नही।

एक बार उन्होने पूरे नगर मे उद्घोषणा करवायी कि "कोई भी व्यक्ति भगवान् महावीर के शासन मे दीक्षित होना चाहे, वह खुशी से ऐसा कर सकता है। उसके दीक्षा-महोत्सव की पूरी व्यवस्था मैं करूगा। यदि किसी के भरण-पोषण करने योग्य कुटम्ब परिवार न हो तो उसके भरण-पोषण की चिंता और व्यवस्था स्वय मैं करूगा।"

राजा श्रेणिक की इस घोषणा का बहुत ही सुन्दर प्रभाव पडा। उनके अनेक राजकुमार, राजरानिया तथा अन्य मुमुक्षु नागरिक सोत्साह सयम-पथ पर अग्रसर हुए।

उपरोक्त दीक्षा-समारोहो मे सम्राट् स्वय उपस्थित रहते थे। उन मगलमय दृश्यो को देखकर वे हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव करते थे।

इससे पूर्व भी श्रेणिक अपने मेधावी, होनहार प्रतिभा-सम्पन्न एव प्रशासनिक व्यवस्थाओ मे अनन्य सहयोगी 'राजकुमार अभय, (जो उनका महामत्री भी था) को तथा मेघकुमार, नन्दीसेन आदि अनेक राजकुमारो को धर्मसघ मे समर्पित कर चुके थे।

सम्राट् श्रेणिक की जैन शासन के प्रति आतरिक अभिरुचि, जैन सिद्धातो के प्रति अटूट आस्था तथा भगवान् महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति सचमुच ही जैन-धर्म की प्रभावना का प्रबल निमित्त बनी थी।

जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार मे सम्राट् की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही। राजा की इस धर्मानुरागिता से उनकी प्रजा प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती थी।

यही कारण था श्रेणिक के युग मे राजगृह जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र वन गया था। उनके प्रभाव से जहा राजपरिवार जैन धर्म से अनुरक्त हुआ, उसके वरिष्ठ सदस्य महावीर के सदस्य बने, वहा धन्ना और शालिभद्र जैसे धन-कुवेर और सम्मान्य श्रेष्ठी-पुत्रो ने भी उनके सघ की आतरिक सदस्यता स्वीकार की। रोहिणेय चोर की जीवन-दिशा वदली तो एक लकडहारे का जीवन भी दिव्य आलोक से जगमगा उठा।

श्रेणिक एक महाप्रतापी और विजयी सम्राट् थे। उन्होने अपनी प्रशासनिक कुशलता, राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता और पुरुषार्थ-परायणता से अपने साम्राज्य का विस्तार किया, उसे शक्तिशाली वनाया।

तत्कालीन शक्ति-सम्पन्न राजाओ एव राज्यो के साथ उन्होने मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। यद्यपि अवन्ती-नरेश चण्डप्रद्योत उनका प्रबल प्रतिद्वन्द्वी था। लेकिन वह काफी दूर था। मगध की वढती हुई शक्ति को रोकने का साहस वह नही कर सकता था। इसलिए श्रेणिक को अपनी

शक्ति और प्रभाव को बढ़ाने का सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया और उस समय उस अवसर का लाभ उन्होंने अत्यन्त विलक्षणता से उठाया। वे अपने देश की शांति-सुव्यवस्था और समृद्धि के लिए बहुत जागरूक थे।

अनेक विदेशी राज्यो के साथ भी उन्होने मैत्री सम्बन्ध स्थापित किए और भगवान् महावीर का मगल सदेश भी वहा तक पहुचाया। ईरानी सम्राट कुरुप (ई० पू० ५५८-५३१) के साथ तो उनके मैत्री-सम्बन्ध काफी प्रगाढ थे। उसके साथ राजनैतिक आदान-प्रदान भी हुआ करता था।

सम्राट कुरुप का एक पुत्र आर्द्रकुमार राजकुमार अभय का मित्र था। अभय ने जैन मुनियो या श्रावको के काम मे आने वाले कतिपय धर्म-उपकरण आर्द्रकुमार को प्रेमोपहार मे भेजे, जिससे प्रतिबुद्ध होकर वह राजगृह आया और भगवान् महावीर का शिष्य बन गया। आर्द्रकुमार की प्रज्ञा निर्मल थी। वह तार्किक और सिद्धातवादी भी था। अन्यतीर्थियो के साथ उसके निर्भय चर्चा प्रसग जैनागमो मे काफी मात्रा मे उपलब्ध हैं।

सम्राट् श्रेणिक ने विभिन्न व्यवसायो व्यापारो और उद्योगो को विभिन्न श्रेणियो या निगमो मे सगठित किया। कहते हैं इसी कारण से उनका नाम श्रेणिक प्रचलित हुआ। उन्होंने कई ऐसी सस्थाओ की प्रतिष्ठा की जो जनतन्त्रात्मक पद्धति से अपनी प्रवृत्तियो को पूर्ण स्वतन्त्रता से चलाती थी। राज्य द्वारा भी मगध साम्राज्य के व्यवसाय और उद्योग-धधो को भारी प्रोत्साहन मिला था। वे श्रेणिया ही आगे चलकर विविध जातियो मे परिणत हुई—ऐसा अनेक विद्वानो का अभिमत है।

सम्राट् श्रेणिक एक कुशल शासक थे। जैन-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि उनके राज्य मे किसी प्रकार की अनीति और भय नही था। प्रजा शान्त, सुखी और धार्मिक थी। राजा श्रेणिक जनपदो के प्रतिपालक और प्रजा-वत्सल थे। वे दयाशील, मर्यादाशील, दानवीर, और महान् निर्माता थे। उन्होने अपनी राजधानी राजगृह का नव निर्माण किया था।

श्रेणिक ने ५२ वर्ष पर्यन्त मगध का शासन किया। उनके नेतृत्व मे मगध ने सर्वांगीण प्रगति की। उनके शासन काल मे जैन धर्म का अभूतपूर्व उत्कर्ष हुआ। अन्त मे श्रेणिक ने चेलना से उत्पन्न अपने पुत्र कूणिक (अजातशत्रु) को राज-पाट सौंप कर एकात मे धर्म-ध्यान-पूर्वक शेष जीवन विताने का निश्चय किया।

बौद्ध भिक्षु देवदत्त के बहकाने पर कूणिक ने अपने पिता को बन्दी बना लिया और स्वय राजगद्दी पर बैठ गया।

फिर अपनी मा द्वारा अपने प्रति पिता के प्रगाढ स्नेह-की घटना सुनकर उसका मन ग्लानि और पश्चात्ताप से भर गया। वह तत्काल पिता को बन्धन-मुक्त करने और क्षमा मागने के लिए दौडा। उसके हाथ मे हथौडा था। श्रेणिक ने सोचा यह मुझे मारने के लिए आ रहा है। उन्होने तत्काल तालपुट विश खाकर आत्महत्या कर ली। कूणिक जब निकट गया तो उनके प्राण पखेरू उड चुके थे।

इस प्रकार ई० पू० ५३५ मे महान् प्रतापी और धर्मात्मा नरेश एव भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् का दु खद प्राणात हुआ।



उसके दृष्टिकोण और चरित्र मे विकार उत्पन्न करते हैं। वे आत्मा की शक्ति को स्खलित करते हैं। कुछ कर्म-परमाणु शरीर-निर्माण और पौद्‌गलिक उपलब्धि के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आश्रव बन्ध का निर्माण करता है। बन्ध पुण्य-कर्म और पाप-कर्म द्वारा आत्मा को प्रभावित करता है। कर्म-प्रभावित आत्मा ही जन्म-मरण की परम्परा को आगे बढाती है। जन्म-मरण की यात्रा ही ससार है। उसका हेतु है—आश्रव।

आश्रव

कर्माकर्षणहेतुरात्मपरिणाम आश्रवः।

—जैन सिद्धांत दीपिका ४/१६

कर्म-आकर्षण के हेतुभूत आत्म-परिणाम को आश्रव कहते हैं। आश्रव चेतना के छेद हैं। उनके द्वारा विजातीय तत्त्व—कर्म रजें निरन्तर आत्मा मे प्रवेश करती रहती हैं। आश्रव को रूपक की भाषा मे समझाया गया है। जैसे नौका मे छेद होते हैं, तालाब के नाला होता है, मकान के द्वार होते हैं, वैसे ही आत्मा के आश्रव होते हैं। आश्रव कर्म ग्रहण करने वाले आत्म-परिणाम हैं। आत्मा की अवस्था है, इसीलिए जीव है।

आश्रव पाच हैं—

१ मिथ्यात्व आश्रव—विपरित श्रद्धा, तत्त्व के प्रति अरुचि।

२. अविरित आश्रव—पौद्‌गलिक सुखो के प्रति अव्यक्त लालसा।

३ प्रमाद आश्रव—धर्माचरण के प्रति अनुत्साह, आत्म-विस्मृति।

४ कषाय आश्रव—आत्मा की आतरिक उत्तप्ति।

५ योग आश्रव—मन, वचन और काय की चचलता, प्रवृत्ति।

मिथ्यात्व आश्रव

अतत्त्व मे तत्त्व का सज्ञान, अमोक्ष मे मोक्ष का सज्ञान तथा अधर्म मे धर्म का सज्ञान मिथ्यात्व कहलाता है। मिथ्यात्व से प्राणी की चेतना मूढ होती है। उससे दृष्टिकोण मिथ्या होता है।

मिथ्यात्वी विपरीत मान्यता से दीर्घ ससारी हो जाता है। उसे प्रकाश की प्राप्ति नही होती। वह जड जगत् को अपने आकर्षण का केन्द्र मानता है। मिथ्यात्व की तुलना गीता के तमोगुण से होती है। वहा कहा गया है कि वह बुद्धि तामसी होती है, जो तम से व्याप्त होकर अधर्म को धर्म समझती है और सत्य को विपरीत मानती है।

बुद्ध की भाषा मे वह दृष्टाश्रव है, जो यथार्थ मे अयथार्थ का दर्शन करता है, तथा अयथार्थ मे यथार्थ का। पतजलि इसे "अविद्या" कहते हैं। मिथ्यात्व की विद्यमानता मे न तो तत्त्वो के प्रति श्रद्धा जागृत होती है और न सत्य के प्रति आकर्षण। यह मिथ्यात्व मोह के उदय मे सतत मूढ रहता

है। मूढ़ व्यक्ति धर्म को सही रूप मे नही जान सकता।

अविरति आश्रव

पदार्थों के प्रति व्यक्त या अव्यक्त आसक्ति या आतरिक लालसा का नाम अविरति है। सम्यक् दर्शन के अभाव मे पदार्थों के प्रति होने वाला आतरिक आकर्षण नही छूटता। सत्य की शोध मे बाहर का विकर्षण या विराग का होना अत्यन्त अपेक्षित है। अविरति के कारण आत्मा के प्रतिक्षण कर्मों का बन्धन होता रहता है।

प्रमाद आश्रव

प्रमाद का अर्थ है आत्म-विकास के प्रति अनुत्साह। प्रमाद व्यक्ति को जागृत नही होने देता। आत्म-विस्मृति मे प्रमाद की अहम् भूमिका रहती है। शराब, नीद, व्यर्थ की बातें, इन्द्रिय-विषय और कषाय— ये सब प्रमाद के पोषक तत्त्व हैं। मनुष्य सामान्यत इन्ही वृत्तियो की धुरी पर घूमता रहता है। ये वृत्तिया उसे भीतर झाकने नही देती। प्रमाद आतरिक मूर्च्छा है, स्वय की विस्मृति है और है अस्तित्व-बोध के प्रति अनुत्साह। प्रमाद का वलय तोड़े बिना अध्यात्म की रश्मिया चैतन्य-मन्दिर मे प्रवेश नहीं पा सकती।

कषाय आश्रव

जो वृत्ति आत्मा को उत्तप्त करती है उसे "कषाय" कहा जाता है। कषाय प्रमाद का ही एक अग है, फिर भी आश्रवो मे उसका स्वतत्र उल्लेख है। इसका कारण यह है कि आत्म-विकास की क्रमिक अवस्थाओ मे प्रमाद के छूट जाने पर भी कषाय के प्रकम्पन चालू रहते हैं। उसके सूक्ष्माशो के प्रति सचेत हुए बिना मुक्ति सभव नही। कषाय के मुख्य अग हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये आत्मा के शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि मे बाधक है।

योग आश्रव

जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।

दूसरे शब्दो मे योग अर्थात् चचलता। हमारे व्यवहार के धरातल पर जो घटनाए घटती है, वे सब आतरिक जगत् के प्रतिबिम्ब मात्र है। घटनाए वस्तुत भीतर घटती है, बाहर तो उनका विस्तार या अभिव्यक्ति मात्र होती है।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय ये चार सूक्ष्म अव्यक्त प्रवृत्तिया है। इनसे आत्मा मे अध्यवसायो का सूक्ष्म स्पदन होता है। योग स्थूल, व्यक्त प्रवृत्ति है। यह स्थूल बुद्धि से जानी जा सकती है।